एकै अषिर पीव का
(ढाई आखर का प्रेम !) और विश्व

यदिहरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकान्तपदावलीं
श्रुणु तदा जयदेवसरस्वतीम ।।[1]
- जयदेव

संत कबीर

1.कबीर साहित्य पर विचार के पहले

i.कबीरदास ने बहुत ही आत्मीयता से जयदेव का स्मरण किया है (देखें 2.ii)। जयदेव ने अपने 'गीतगोबिंद' में 'हरिस्मरण' और 'विलास कला कुतूहल' दोनों ही प्रकार की अभिप्रेरणाओं से संचालित सामाजिकों को पाठ के आनंद के लिए आमंत्रित किया। कहाँ तो 'हरिस्मरण' और कहाँ तो 'कलाविलास'! दुनिया में शायद ही किसी कवि ने इतने आत्मविश्वास के साथ 'हरिस्मरण' और 'कलाविलास' को इस तरह से अविच्छेद्य रूप में प्रस्तुत करने का साहस किया हो। यह पूर्णत: जयदेव का व्यक्तिगत साहस नहीं है। इस साहस का स्रोत निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति के अपने वैशिष्ट्य में है। कबीर में भी व्यक्तिगत के साथ ही भरपूर सांस्कृतिक साहस का अक्षय भांडार है। खुले मन से यह

स्वीकारना चाहिए कि 'हरिस्मरण' और 'विलास कला कुतूहल' में प्रवृत्तिगत अनिवार्य असंगति नहीं है।

ii.इतिहास तो वर्त्तमान की समझ को प्रभावित करता ही है, वर्त्तमान भी इतिहास की समझ को प्रभावित करता है। आज कबीर साहित्य का अध्ययन जिस प्रकार से किया जा सकता है, उस प्रकार से न तो कबीर के समय में संभव था और न श्याम सुंदर दास या हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में ही संभव था। ऐसा कुछ तो उनके समय की सीमा के कारण था और कुछ उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण भी था; तब से लेकर अब तक उनचास पवन बह चुका है, देश में भी और दुनिया में भी। कबीर साहित्य का 'तात्त्विक दृष्टि' से काफी अध्ययन हो चुका है। आज कबीर साहित्य में रुचि के कारण उनके 'तत्त्व विचार' में नहीं, उनके ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में हैं।

2.पाँडे करसि न वाद विवादं

i.कबीरदास के समय में भारतीय समाज एक नये प्रकार के संक्रमण से गुजर रहा था। ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी संक्रमण इतिहास, वर्त्तमान और भविष्य के अंतर्विरोधों ये मुक्त नहीं होता है। इन अंतर्विरोधों के कारण उभरकर सामने आनेवाले संश्लेषण और विश्लेषण की आख्याओं और व्याख्याओं में अंतर्विरोधों के बने रहने की भरपूर गुंजाइशें रहती हैं। निवेदन यह कि संश्लेषणों, विश्लेषणों, आख्याओं और व्याख्याओं के किसी एक प्रसंग को अंतिम मानने का हठ आलोचना के परिसर के बाहर की चीज है; धर्म, राजनीति, वैयक्तिक-सामुदायिक हितों के परिसरों में ऐसे हठों और पूर्वग्रहों का चाहे जो महत्त्व हो, आलोचना के लिए इनका परिणाम अनर्थकारी ही होता है। आलोचना का काम तो किसी भी दौर में संश्लेषण, विश्लेषण और व्याख्याओं के कारण उभरे अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की प्रतिज्ञा से अनिवार्यत: प्रतिबद्ध होता है। इस दृष्टि से, आलोचना के किसी भी सार्थक काम को अपने पूर्ववर्त्ती प्रयासों पर पैनी नजर बनाये रखकर भी हर बार शुरू से ही शुरू करना पड़ता है।

ii.कबीर के समय में राजनीति की सत्ता संरचना में तो इस संक्रमण से प्रारंभ होनेवाले परिवर्त्तन परिलक्षित हो ही रहे थे, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी एक नई हवा चल रही थी। इतिहास बताता है कि “गुर प्रसादी जैदेव नामां, भगति के प्रेमी इन ही है जाना।” - कबीर द्वारा बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के इन दोनों संतों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि उनका आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के अंत अथवा चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था।”[2] साथ ही इतिहास यह भी बताता है कि ‘वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज-सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर धर्म-सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रतिबिंब उनके साहित्य में विद्यमान है।’[3] कबीर ने इतनी आत्मीयता से जयदेव का स्मरण किया है तो निश्चित रूप से जयदेव की काव्य-भंगिमा को भी कबीर ने पसंद किया होगा। जयदेव की काव्य-भंगिमा की एक अनन्य प्रविधि है, ‘हरिस्मरण’ को ‘विलास कला कुतूहल’ के ब्याज से अभिव्यक्त करना। काव्य के संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द-शक्ति, व्यंजना, की भी लगभग यही प्रविधि है। कबीरदास के साहित्य में भी इस प्रविधि का भरपूर उपयोग हुआ है। कबीरदास का साहित्य ‘मनुष्य-प्रेम’ को ‘भक्ति’ के ब्याज से अभिव्यक्त करता है।

iii.इस बात को समझना होगा कि कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व प्रेम है। कबीर को ’सतगुरू’ भी इसीलिए भाते हैं कि वे ‘सत्त प्रेम’ का प्याला भरते हैं, खुद पीते हैं और कबीर को भी पिलाते हैं। ’साधो, सतगुरू मोंहि भावै।/ सत्त प्रेम का भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै।’[4] इस अपार जगत में जिससे रहनि संभव हो वही ‘प्रीतम’ कबीर को ‘प्यारा’ है ! ‘जिससे रहनि अपार जगत में, सो प्रीतम मुझे पियारा हो। / जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिं में करत पसारा हो।/ आप जरै औरनि को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।’[5] कबीर के प्रेम की जागतिकता पर और कुछ अलग से कहने की जरूरत है! ‘देह’ के महत्त्व को समझना जागतिकता के महत्त्व को समझना नहीं तो और क्या है? कबीर कहते हैं, ‘पाँडे करसि न वाद विवादं, या देही बिना सबद न स्वादं।।’[6] मनुष्य के प्रति निर्विशिष्ट और अबाध प्रेम कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व है। कबीर के समय का बीज-

तत्त्व, धर्म और ईश-विचार में निहित था। इसलिए, कबीर का मनुष्य-प्रेम, ईश्वर के आलंबन से भक्ति के परिसर में अभिव्यक्त हुआ है। यदि 'हरिस्मरण' के संदर्भ में 'कलाविलास' के लिए जगह बन सकती है तो 'हरिस्मरण' के संदर्भ में समाज-विकास और सामाजिक समानता की आकांक्षा के लिए जगह क्यों नहीं बन सकती है? बन सकती है। इसीलिए, कबीर ने ईश-विचार की चुनौती तो स्वीकारी, लेकिन साथ ही उन्होंने धर्म को गहरी चुनौती भी दी। उन्होंने धर्म और ईश-विचार दोनों को ही बदलकर रख दिया। कबीर के बाद हिंदी-समाज के संदर्भ में न तो धर्म और न ही ईश-विचार वही रह गया जो कबीर के पहले था (देखें 2.v)। 'प्रेम' मनुष्य की मूल वृत्ति है। इस प्रेम की प्रेरणा के कारण ही मनुष्य की समष्टि चेतना और व्यष्टि चेतना विकसित हुई है। इसी प्रेम का प्रकाश मनुष्य के सारे कार्य-व्यापारों में प्रतिभासित होता है। कबीर के विद्रोह, व्यष्टि-समष्टि चेतना, धर्म-सुधार, समाज-सुधार और भक्ति को उनके मनुष्य-प्रेम की उच्चतर-भूमि के संदर्भ में ही समझा जा सकता है; उनके प्रेम की उच्चतर भूमि पर अलग-अलग दिखनेवाले विद्रोह, व्यष्टि-समष्टि चेतना, धर्म-सुधार, समाज-सुधार और भक्ति के सारे तत्त्व एक हो जाते हैं। मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं की उच्चतम, मनोरम और शील-शक्ति-सौंदर्य संपन्न मूल्यों एवं मनोभावों का मानवीकृत रूप प्रेम और ईश-विचार का विधान करता है। इसलिए, प्रस्तावित किया जा सकता है कि कबीर काव्य में ईश्वर के प्रति प्रेम वस्तुत: निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति प्रेम की ही पराकाष्ठा है। प्रेम-तत्त्व का भक्ति-काव्य पर सर्वाधिक प्रभाव रहा है। जितने कोणों और जितने संदर्भों से भक्ति-काव्य में प्रेम-विचार हुआ है, उतना किसी दूसरे काल-खंड में शायद ही कहीं और कभी हुआ हो।

iv.आजकल प्रेम के बहुत सारे संस्करण हैं बाजार में! वस्तुत:, 'प्रेम में मनुष्य की मानसिक स्थिति का सबसे सुंदर निदर्शन और प्रतिफलन उभर कर आता है। इस अवस्था में मनुष्य के लिए कुछ भी अ-देय नहीं रहता है। प्रेम में मनुष्य सबकुछ दे देना चाहता है। वह एक ऐसे दान योगी की तरह आचरण करता है जैसे संसार की सारी चीजें उसके लिए देय है। दान योगी अर्थात देकर जो रत्ती भर भी रिक्त नहीं होता, बल्कि अपने को भर लेता है, योग कर लेता है। लेकिन यह प्रेम है क्या? इसे समझना क्या इतना आसान है! इसके

इतने रूप हैं, इन रूपों में इतने रंग हैं, इतनी तरह के विस्तार हैं, इतनी भंगिमाएँ हैं और इतने तरह के आकर्षण हैं कि बस इसे अहसास में ही पाया जा सकता है। गूँगे का गुड़! जाहिर है, बोले नहीं कि सब गुड़ गोबर। समझने पर आमादा हुए नहीं कि बात आपके हाथ से गई समझिये। संतों के यहाँ इसका एक रूप है तो भोगियों के यहाँ इसका बिल्कुल दूसरा रूप है। मानव जीवन का हर काम अपने-आप में प्रेम की माँग करता है। सामाजिकता के मूल में भी इसी प्रेम तत्त्व का ही कोई-न-कोई रूप सक्रिय हुआ करता है। यही प्रेम-तत्त्व किसी कर्म को मानवीय बनाता है। इसी के अभाव में कर्म यांत्रिक बन जाता है। यंत्र जीवन के लिए जरूरी होते हैं लेकिन जीवन में यांत्रिकता तो क्रूरता की नैहर हुआ करती है। इस समय जब बड़े-बड़े ज्ञानी लोग अपनी योजनाओं को मानवीय चेहरा प्रदान करने के लिए विकल हो रहे हैं तो दरअसल अपनी योजनाओं को इसी प्रेम तत्त्व से बना आवरण, प्रेम की चादर प्रदान करना चाहते हैं। कहते हैं कि प्रेम के वश में तो भगवान भी होते हैं, अन्यों की बिसात ही क्या! आज कल तो बहुत सारे प्रबंध पाठ और शास्त्र हैं, होटल मैनेजमेंट से ह्यूमेन मैनेजमेंट तक। किंतु संभवत:, दुनिया का सबसे पुराना प्रबंध प्रेम-प्रबंध ही है। प्रेम पोषण के लिए भी चाहिए और शोषण के लिए भी। प्रेम साधू को भी चाहिए और कामी को भी। दानी को भी चाहिए और डाकू को भी। लोभी को भी और संत को भी। आराध्य राम के प्रति अपनी भक्ति और अपनी प्रियता प्रतिभासित करने के लिए गोस्वामी तुलसी दासने कहा कि हे राम तुम मुझे उतने ही प्रिय हो जितना कि कामियों को नारी प्रिय होती है, लोभियों को दाम (पैसा) प्रिय होता है - 'कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।' तुलसी दास ने प्रीति को भय से जोड़ा तो कबीरदास ने जीवन के सबसे कठिन सबक के रूप में चुना। रहीम ने संबंध की संवेदना तंतु के रूप में समझा। प्रेम के बारे में कितना कुछ लिखा गया फिर भी जैसे सारा-का-सारा अभी लिखा जाना बाकी ही हो। प्रेम की चादर ज्यों कि त्यों धरी हुई है , बिल्कुल कोरी-की-कोरी ! लेकिन क्या प्रेम-तत्त्व के स्वरूप पर देश-काल-प्रसंग का कोई असर नहीं पड़ता? ऐसे प्रश्न हैं और हो सकते हैं लेकिन मुसीबत यह है कि शीश उतारे बिना कोई इस घर में घुस नहीं सकता और जब शीश ही उतार कर भूँई पर धर दिया तो इन प्रश्नों का उत्तर कोई ढूँढ़े ही कैसे? शायद, ढूढने की जरूरत भी नहीं होती

और प्रेमी लोग इसे ढूढते भी नहीं हैं। प्रेम की इसी चिरंतन मुद्रा का लाभ उठाकर कुछ लोग प्रेम के नाम पर अपना धंधा भी फैला लेते हैं। तरह-तरह का कारोबार प्रेम के नाम पर उसकी ओट में चलता रहता है।'[7] 'अकथ कहाँणी प्रेम की, कछु कही न जाई। गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसुकाई।'[8] भक्तिकाल के साहित्य और कबीर को समझने के लिए आलोचना के सामने कठिन चुनौती यह है कि उसे शीश उतारकर हाथ में भी करना है और प्रेम को समझना भी है। 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उन से अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं।'[9] यह कैसी ऐतिहासिक विडंबना है कि कबीर के संदर्भ में इस सत्य का थाह लग जाने के बवाजूद, महापंडित आलोचक 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु मानकर' अपने आलोचना के काम को आगे बढ़ाने के बदले किसी और राह पर निकल पड़ा! किसने कबीर के अध्ययन में कबीर काव्य के इस केंद्रीय वस्तु की उपेक्षा की! असल में कबीर के रास्ते पर चलने के लिए सिर्फ सत्य को थाह लेना ही पर्याप्त नहीं है, कबीर के प्रिय के प्रति अ-थाह प्रेम का होना भी जरूरी है। कबीर के प्रेम का घर सिर्फ ईश प्रेम का घर नहीं बल्कि, मानव-प्रेम का घर है; भक्ति की इस मनोभूमि पर ईश प्रेम और मानव-प्रेम एक दूसरे से अभिन्न है - कहियत भिन्न, न भिन्न। यह प्रेम खाला का घर नहीं है; 'कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं। सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहिं।।'[10] दुखद यह कि आचार्य कबीर के इस प्रेम घर में नहीं पैठ पाये! शीश उतारकर हाथ में लेना क्या इतना आसान होता है! यह तब और अधिक मुश्किल काम हो जाता है जब सिर पर पांडित्य और संस्कार का दुहरा बोझ भी लदा हुआ हो!

v. 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय नहीं हैं। लेकिन, दिक्कत यह है कि हिंदी आलोचना के मनोभाव में शुरू से ही 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय की तरह अंत:सक्रिय रहे हैं। इस अंत:सक्रियता के ऐतिहासिक आधार भी रहे हैं (देखें 1.ii)। हिंदी आलोचना को भक्ति

काल के साहित्य के अध्ययन के क्रम में इस कठिन सवाल से जूझना अभी बाकी है कि क्या धर्म और भक्ति एक ही चीज है? वस्तुत:, 'भक्ति' 'धर्म' के परिसर में 'अंतर्घार्मिक' और 'धर्मातीत' अंतर्वस्तु का अंत:संयोजन कर 'धर्म' को पूरी तरह बदल देने का काम करती है! अगर ऐसा नहीं है तो 'धर्मों' के रहते हुए भी 'भक्ति' के सामाजिक उद्भव की ऐतिहासिक जरूरत की व्याख्या किस तरह की जा सकेगी (देखें 2.iii)! ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'धर्मों' में 'कर्मों' पर नहीं 'कर्मकांडों' पर जोर था, 'प्रेम' पर नहीं 'नेम' (नियम) पर जोर था। हिंदू धर्म में ईश्वर 'राजनारायण' है जबकि 'भक्ति' में ईश्वर 'प्रेमपरायण' है। 'भक्ति' का सामाजिक उद्भव निर्विशिष्ट ईश्वर और निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अगाध-अबाध और सकर्मक प्रेम की सकारात्मक अभिन्नता को साधने की ऐतिहासिक जरूरत से हुआ था। इस प्रेम के मूल स्वरूप को समझने से बहुत सारी गुत्थियाँ खुल सकती हैं। इतिहास गवाह है कि इस प्रेम-तत्त्व के कारण 'सभ्यताओं के संघात'[11] की क्रूर आशंकाएँ 'सभ्यताओं के अंतर्मिलन' की मधुर संभावनाओं में बदलती रही है। लेकिन यह प्रेम-तत्त्व इतना सहज नहीं है (देखें 2.iv)। सभ्यता के विकास में आनेवाले परिवर्त्तनों के संदर्भों को भी इस समझ से खोला जा सकता है। कबीरदास का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए। कबीरदास भक्त थे (देखें 3.viii), उनकी भक्ति के तात्त्विक स्वरूप पर काफी चर्चा हुई है, उनके रहस्य-बोध पर भी चर्चा हुई है, जरूरत है उनकी भक्ति-चतेना को उनके सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने की। प्रेम सकारात्मक अभिन्नता की ओर बढ़ने का मौलिक आधार है। नकारात्मक भिन्नता अंधकार है। प्रेम प्रकाश है। प्रेम के प्रभाव में नकारात्मक भिन्नता वैसे ही गायब हो जाती है, जैसे प्रकाश के प्रभाव में अंधकार गायब हो जाता है। 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि। सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।'[12] 'प्रेम गली' इतनी सँकरी होती है कि इसमें दो भिन्न के लिए जगह नहीं होती है। 'हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोई। बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।'[13] 'राम' और 'रहीम', 'करीम' और 'केशव' के अभिन्न माने जाने के आग्रह में निहित मूल बात यह है कि उनको माननेवाले लोग अभिन्न हैं। धर्म और ईश्वर की अभिन्नता का विचार असल में मनुष्य की अभिन्नता का विचार होने के कारण ही सार्थक होता है। मनुष्य का मनुष्य से

ही, नहीं समस्त सचराचर से मनुष्य की अभिन्नता का विचार ही प्रेम है। इसलिए प्रेम में 'वे' और 'हम' की नहीं सिर्फ 'हम' की ही गुंजाइश बनती है। प्रेम सामाजिक समूहन की भिन्नताओं को अभिन्नताओं में बदलने का सबसे बड़ा आधार है। कबीरदास के साहित्य को इस प्रेम के संदर्भ में समझने की कोशिश की जा सकती है। कबीर की पीड़ा यह है कि सकारात्मक अभिन्नता हासिल करने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट उलझानेवाले लोगों और विचारों (देखें 3.vi) की तरफ से खड़ी की जाती है; ऐसे लोगों से अभिन्नता कैसे हो सकती है ?

vi.ध्यान देने की बात यह है कि भक्ति साहित्य का 'प्रेम-तत्त्व' जीवन का अभिनव प्रसंग है। कहना न होगा कि ईश्वरीय-प्रेम अंतत: और अनिवार्यत: मानव-प्रेम ही होता है। 'सबार ऊपर मानुस सत्यो' चंडीदास की उक्ति जो आज बंगाल में लोक-उक्ति के रूप में प्रचलित है, पूरे संत साहित्य के मर्म को उद्भासित करती है। ईश्वरीय-प्रेम और मानव-प्रेम के बीच सूक्ष्म और अबाध भावांतरण[14] को ठीक से नहीं समझने पर न तो कबीर का आध्यात्म समझ में आ सकता है और न ही उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व की बात ही समझ में आ सकती है। बहुत ही विनम्रता से निवेदन किया जा सकता है कि कुछ आलोचकों ने कबीर के 'ईश्वरीय-प्रेम' अर्थात आध्यात्म-चेतना, को तो खूब सराहा लेकिन उनके 'मानव-प्रेम' अर्थात सामाजिक-चेतना की गंभीरता को न समझते हुए उसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की शब्दावली में 'फोकट का माल' माना तो कुछ आलोचकों ने कबीर की व्याख्या में आध्यात्म-चेतना को बाधक माना। कबीर के ही शब्दों में ही कहें तो, 'इन दोनों ने राह न पाई'! कबीर को 'कागद लेखी' के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता है; 'सात समुंद को मसि और सारी धरती को कागद में बदल' दिये जाने पर भी यह संभव नहीं है! क्योंकि कबीर जिस 'हरि गुण' की बात करते हैं वह लिखा-लिखी से सीमित नहीं होकर सामाजिक आचरण तक विस्तीर्ण है। 'सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ। धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ।।'[15] कबीर का प्रेम 'दुलहा-दुलहिन' का मधुर अंतर्मिलन है, बारातियों का संघाती मजाक नहीं, 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात। / दुलहा दुलहिन मिलि गये, फिकी परी

बरात।'[16] क्योंकि 'कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव। / आतम दृष्टि कहा लिखै, जीत देखे तित पीव।।'[17] धर्म (हिंदू) व्यक्ति की श्रेष्ठता को उसके जन्म के आधार पर तय करता है। धर्म वर्णव्यवस्था के आधार के सामाजिक अंत:प्रसार के लिए प्रयास करता है (देखें 3.vi)। तुलसीदास जब 'सील गुन हीन बिप्र' की पूजा का आग्रह करते हैं तो साहित्यिक, भक्त और संत की तरह नहीं 'धर्म-प्राण' की तरह आचरण करते हैं; 'पूजा' वैसे भी 'भक्ति' की नहीं 'धर्म' की माँग होती है। जब साहित्य और भक्ति वेद के परिसर के बाहर की चीजें (देखें 3.ii) हैं तो वेद-व्यवस्था को पुष्ट करने में उनकी ऊर्जा के इस्तेमाल का क्या मतलब? इसलिए जब कबीर जन्म की नहीं कर्म की महत्ता पर जोर देते हैं तो उसके मर्म को भक्ति के मनुष्य-प्रेम के संदर्भ में समझा जा सकता है, 'ऊँचे कुल क्या जनमियाँ जे करणी ऊँच न होइ। सोवन कलस सुरे भर्या, साँधू निंद्या सोइ।।'[18] इसलिए कबीर कहते हैं, 'जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।/ मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।'[19] जो 'तलवार' की नहीं 'म्यान' का बखान करते हैं, वे झूठ बोलते हैं, 'पंडित बाद बदंते झूठा।/ राम कह्यां दुनिया गति पावै, षाँड कह्याँ मुख मीठा।।/ पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।/ भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।।'[20] भक्ति के परिसर में पिछले दरबाजे से 'धर्म' की सक्रियता को लक्षित कर कबीर ने सचेत किया है कि 'संत न छाढ़ै संतई, जे कोटिक मिलै असंत। चँदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत।।'[21] क्योंकि, 'कथणीं कथी तो क्या भया, जे करणीं नाँ ठहराइ। कालबूत के कोट ज्यूँ, देषतहीं ढहि जाइ।।'[22] इसीलिए कबीर पुस्तक बहा देने की बात करते हैं, 'कबिरा पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ। बाँवन आषिर साधि करि, ररै ममैं चित लाइ।।'[23] 'कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार। पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूँ करि करै पुकार।।'[24] 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ। एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ।।'[25] 'मैं जान्यूँ पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग। राँम नाँम सूँ प्रीति करि, भल भल नीदौं लोग।।'[26] ध्यान दिया जाना चाहिए कि कबीर पढ़ने का विरोध नहीं करते हैं, वे पोथी की जगह प्रेम को पढ़े जाने को वरीयता देते हैं। प्रेम को पढ़ने में बाधक पोथी को बहाने की बात करते हैं।

3.आज के समय में कबीर

i.साहित्य मनुष्य की सामाजिकता का अनिवार्य हिस्सा है। इसीलिए मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास साहित्य के विकास का भी इतिहास है। कबीर का साहित्य हमारे इतिहास का हिस्सा है। इतिहास को देखने से पता चलता है कि हिंदी समाज में हमेशा एक तरह की अंदरुनी हल-चल बनी रहती है; एक ऐसी अंतर्धारा जिसमें आंतरिक तीव्रता तो बहुत होती है लेकिन सतह पर उसका प्रभाव बहुत सहज ही लक्षित नहीं हो पाता है। आज भी हिंदी समाज में झंझावातों का दौर चल रहा है। ऐसे कठिन समय में, निश्चय ही कबीर का साहित्य हमारा पथप्रदर्शक बन सकता है। लेकिन, इसमें कुछ सावधानी बरतने की भी जरूरत है। सावधानी यह कि 'हमारा' के आशय को बिल्कुल साफ और निर्भ्रांत रूप से समझ लेना होगा। यह काम ऊपर से जितना आसान और सहज दिखता है, उतना आसान और सहज है नहीं (देखें 4.i)।

ii.अकारण नहीं है कि बाल्मीकि से इस महाद्वीप में कविता का प्रारंभ होता है! भाषिक स्तर पर देखें तो वैदिक संस्कृत की जगह लौकिक संस्कृत का व्यवहार प्रारंभ होता है। इस आरंभ में 'भाषा का युद्ध' लक्षित किया जाना चाहिए। रघुवीर सहाय कहते हैं, 'वही लड़ेगा अब भाषा का युद्ध / जो सिर्फ अपनी भाषा में बोलेगा/ मालिक की भाषा का एक शब्द भी नहीं/ चाहे वह शास्त्रार्थ न करे जीतेगा/ बल्कि वह शास्त्रार्थ नहीं करेगा'[27]। रघुवीर सहाय के इस काव्यानुभव के पीछे सक्रिय मान्यता का सूत्र संत-साहित्य की सामाजिक प्रेरणाओं से सीधे जुड़ता है। कबीर से पहले 'लोक', वेद (अर्थात शास्त्र के पीछे-पीछे आँख मूँदकर चल रहा था। गुरू ने इस अंधानुकरण का 'ज्ञान' कराया और लोक-अनुभव (दीपक) की उपलब्धि हुई। शास्त्र के शक्ति-स्रोत (तेल, बाती) को हासिल किया और फिर शास्त्र की परिधि (हट्ट) के भीतर नहीं आने का संकल्प किया। 'पीछे लागि जाइ था, लोक वेद के साथि। / आगे थैं सतगुरू मिल्या, दीपक दीया हाथि।।/ दीपक दीया तेल भरि, बाती देई अघट्ट।/ पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट।।'[28] बार-बार

विचारणीय है कि धर्म तो पहले से सक्रिय था ही फिर भक्ति की जरूरत क्या थी! इस जरूरत के संदर्भ में ही संतों के लोकधर्म के महत्त्व को समझा जा सकता है।

iii.संतों के लोकधर्म ने धर्म के स्वरूप को ही बदल दिया। शास्त्र जिस तरह से धर्म का विधान करता है, संतों का लोकधर्म विधान के उस परिसर से बाहर की चीज है। धर्म और सामंतवाद के गहरे रिश्ते पर शायद ही किसी को संदेह हो, लेकिन संतों का लोकधर्म सामंतवाद से सीधे टकराता है। धर्म और भक्ति में टकराव का यह ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आधार और परिप्रेक्ष्य है। 'संतों के लोकधर्म का महत्त्व क्या है? संतों का लोकधर्म सामंती व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता है वरन् उसे कमजोर करता है। सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। वर्ग-युक्त समाज में बहुधा सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप ले लेते हैं।'[29] हालाँकि, यह उत्साही और कुछ अधिक उम्मीद करनेवाली काल्पनिक स्थिति है, फिर भी सोचा जा सकता है कि धर्म पर से पुरोहितों का इजारा तोड़ने के साथ ही यदि धरती पर से सामंतों के अधिकार को भी समाप्त करने की भी कोशिश की गई होती तो भारत का विकास किस तरह से हुआ होता! यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि मनुष्य के प्रति अकुंठ प्रेम भक्ति के मूल में है। भक्ति के मूल में धार्मिक शोषण, जो सामाजिक और आर्थिक-शोषण का आधार प्रदान करता है, का जबर्दस्त प्रतिरोध है। धरती पर से सामंतों के अधिकार को भी समाप्त करने की कोशिश की बात उत्साही और कुछ अधिक ही उम्मीद करनेवाली काल्पनिक स्थिति भले हो, लेकिन क्या बिल्कुल निराधार है! यहाँ, 'इस बात को भुला देना कि मानव जाति पर लदा धर्म का जुआ समाज के अंतर्गत लदे आर्थिक जुए का ही प्रतिविंब और परिणाम है, पूँजीवादी संकीर्णता होगी।'[30] इसलिए 'पूँजीवादी संकीर्णता' से ऊपर उठकर देखने पर, यह मानने में अधिक दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि 'मानव जाति पर लदे धर्म के जुए' में किसी भी तरह के बदलाव की माँग और

प्रयास के आशय का स्वाभाविक प्रसार 'आर्थिक जुए' में बदलाव की माँग और प्रयास को भी अंतर्ध्वनित करता है (देखें 2.i)। धर्म का 'ईश्वर' कहता है कि उसका ठिकाना मसजिद, काबा, कैलास है, भक्ति का 'ईश्वर' कहता है, 'मोकों कहाँ ढूढ़े रे बंदे, मैं तो तेरे पास में। / ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।/ ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।'[31] जाहिर है, इस मान्यता से 'धर्म परायणता' और 'ईश्वर' की ओट में अपना उल्लू सीधा कर रहे हिंदू-मुस्लिम पुरोहित-समूह को जोरदार धक्का लगना स्वाभाविक था (देखें 5.iii और 5.v)। जिसे धक्का लगेगा, वह मारने तो दौड़ेगा ही, 'साधो, देखो जग बोराना।/ साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।/ हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।' भक्ति के 'ईश्वर' की ठकुराई वहाँ है, 'जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं' है। 'तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूँठा राँम खुदाई। जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं, तहाँ काकी ठकुराई।।'[32] 'धर्म' और 'भक्ति' के टकराव को सगुण और निर्गुण के मतवैभिन्न्य के रूप में भी चिह्नित किया जा सकता है। सगुण और निर्गुण में अंतर यह भी है कि सगुण-भक्ति अपने अदृश्य 'ईश्वर' को तो सहज ही 'दृश्य' कर लेने का दावा करती है, इसके लिए एक-से-बढ़कर-एक तर्क भी देती है, लेकिन अपने समय में दृश्य 'चाक' और 'चक्की' को उसी तर्क-शक्ति के बल पर 'अदृश्य' कर देती है! कबीर तो देखते हैं, तुलसीदास क्यों नहीं 'चाक और चक्की' देख पाते हैं! आज के समय में भारतीय जीवन संदर्भों को धर्म के कोलाहल और सांप्रदायिकता के हलाहल का शिकार बनाया जा रहा है, इसके मूल में 'धर्म' और 'भक्ति' के टकराव को भी चिह्नित किया जाना जरूरी है। 'धर्म' सगुण के माध्यम से पुरोहितवाद को 'भक्ति' में संस्थापित करना चाहता है, जबकि 'भक्ति' निर्गुण के माध्यम से 'धर्म' में राज कर रहे पुरोहितवाद को वहाँ से बाहर कर देना चाहता है। ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'निर्गुण' और 'सगुण' का विवाद 'धर्म' और 'भक्ति' के परिसर में पुरोहितवाद के प्रति रवैये के कारण उत्पन्न हुआ। कहना न होगा कि पुरोहितवाद, सामंतवाद का धार्मिक रूप है और वर्णव्यवस्था सामंतवाद का सामाजिक रूप है। ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में माना जाना चाहिए कि सामंतवाद से सीधी लड़ाई के लिए ही, 'भक्ति' पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था से लड़ते हुए निर्विशिष्ट ईश-प्रेम के आवरण में निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अपने अगाध एवं अबाध प्रेम के साथ विकसित हुई।

'भक्ति' के मर्म में कोरी भावुकता नहीं क्रूर सामाजिक यथार्थ को मानवीय बनाने की अकुंठ सांस्कृतिक आकांक्षा है। (देखें 7.iv)।

iv.कठिन समय में, अपने पुरखों को याद किये जाने के क्रम में एक तरह की स्वाभाविक भावुकता हमारे विवेक को आच्छादित कर लिया करती है। कबीर साहित्य का सारांश विवेक के इस भावुक आच्छादन का अनुमोदन नहीं करता है। जाहिर है, कबीर साहित्य के अध्ययन के प्रयोजन पर भावुकता का बोझ जितना कम पड़े उतना ही अच्छा है। भावुकता के इस खतरे का गहरा संबंध 'वर्ण-व्यवस्था' के कारण व्युत्पन्न हिंदी समाज की व्यापक दुर्दशा और उसके भाव-बोध से है। भावुक होकर धर्मवीर कहते हैं, 'मेरे मत में, कबीर के गुरू मक्खी और मच्छर हो सकते थे, कबीर के गुरू कुत्ते ओर बिल्ली हो सकते थे लेकिन रामानंद ब्राह्मण उनके गुरू कभी नहीं हो सकते थे। रामानंद को कबीर का गुरू बताने में इतिहास के साथ साजिश हुई है। यह ब्राह्मणों द्वारा साहित्य में अपना वर्चस्व बनाए रखने की कोशिश है। यह वैसी ही कोशिश है जैसी आजकल आंबेडकर और गाँधी के संबंध को लेकर की जा रही है। यदि दलित लोग डॉ. आंबेडकर के बचाव में ढंग से नहीं लड़ सके तो कुछ दिन बाद हिंदू विद्वान यह सिद्ध कर देंगे कि डॉ. आंबेडकर गांधी के सबसे प्रिय शिष्य थे।'[33] 'रामानंद ब्राह्मण उनके गुरू कभी नहीं हो सकते थे' यह डॉ. धर्मवीर का भावुक अनुमान है। इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि कबीर के गुरू कौन थे! यह तो तुलसीदास भी मानते थे कि 'बिरंचि सम' गरू के मिलने पर भी 'मूरख हृदय' चेतता नहीं है! क्या तुलसीदास ने कबीर को लक्षित कर यह बात कही थी! हजारीप्रसाद द्विवेदी तो कबीर को साधना के क्षेत्र में 'युग गुरू' मानते हैं। 'युग गुरू' (देखें 4.vi) का गुरू कौन हो सकता है! सच बात तो यह है कि कबीर 'आत्तदीप' होने की परंपरा के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। 'गुरू' 'गोबिंद' की पहचान करवा सकता है, लेकिन 'गुरू' की पहचान तो खुद ही करनी पड़ती है! कबीर से बेहतर इस बात को और कौन जान सकता था! सभी ब्राह्मणों को 'ब्राह्मणवाद' के खाते में डाल देना न तो इतिहास के साथ न्याय है और न वर्त्तमान के साथ ही न्याय है। आंबेडकर भी इस बात को मानते थे कि 'ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि

ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है (टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट)।'[34] जिस प्रकार 'ब्राह्मणवाद' अन्य जातियों में (और उस जाति के कुछ सदस्यों में भी) घुसा हुआ हो सकता है, उसी प्रकार कुछ ब्राह्मण भी 'ब्राह्मणवाद' की परिधि के बाहर हो ही सकते हैं! लेकिन भावुक मन में इस फर्क के तर्क के लिए जगह ही कहाँ बचती है!

v.यह सच है कि ब्राह्मणवाद और पुरोहितवाद ने भयंकर साजिशें की है। इन साजिशों के प्रमाण विभिन्न शास्त्रों में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को देखा जा सकता है (देखें 5.v)। लेकिन क्या इस तरह की साजिशों का संबंध सिर्फ 'वर्णवादी व्यवस्था' में ही होती है? इन साजिशों का राजनीति और सत्ता से कैसा लगाव होता है इसे भुला देना क्या उचित होगा! ध्यान में रखना होगा कि 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' का जन्म मनुष्य की नैसर्गिक धार्मिक भावनाओं के राजनीतिक दुरुपयोग की आकांक्षाओं से हुआ है। इसलिए, 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' धर्म के आधार पर राजनीति करनेवालों के अनुकूल ठहरती है। इस अर्थ में, 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' की सारभूत विशेषताओं का विनियोग बदले हुए नाम-रूप के साथ हर व्यवस्था में सक्रिय रहती है। इसलिए, 'बिल्कुल यही दृष्टिकोण प्लेटो के "रिपब्लिक" में भी देखा जा सकता है। उसमें झूठा और मनगढ़ंत प्रचार किया गया है कि ईश्वर ने दार्शनिकों में सोना, योद्धाओं में चाँदी, तथा किसानों और कारीगरों में पीतल और लोहा रखा। प्लेटो ने महसूस किया कि इस कल्पित कथा को एक ही पीढ़ी में जनमानस में स्त्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता लेकिन, दूसरी, तीसरी और उसके बाद की पीढ़ियों में लोगों का विश्वास इस पर जमाया जा सकता है। काल की दृष्टि से तो नहीं, लेकिन स्थान की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी प्लेटो और कौटिल्य दोनों के विचार में अपनी सत्ता की रक्षा और विस्तार के लिए शासक वर्ग को अंध विश्वास को प्रश्रय देना चाहिए। रोम के राजनीतिज्ञों की दृष्टि भी ऐसी ही थी। वहाँ के पुरोहित मंडलों ने अपना प्रभाव खूब बढ़ा लिया था, फिर भी उन्होंने और उनमें से भी खास तौर से उच्च पदों पर आसीन लोगों ने इस बात को कभी नहीं भुलाया कि उनका कर्तव्य समादेश देना नहीं, अपितु दक्षतापूर्ण

परामर्श देना है। और रोमन राजनीतिज्ञ यदि इस प्रकार के स्पष्ट प्रपंचों को चुपचाप स्वीकार लेते थे वह धर्म का विचार करके नही बल्कि अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए।'[35] आज के समय में 'ब्राह्मणवाद' और 'पूँजीवाद' के संश्रय को भी इस संदर्भ में समझा जा सकता है। डॉ. आंबेडकर ने इस बात को समझते हुए ही कहा था कि 'मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद।'[36] संतों का लोकधर्म का महत्त्व यह है कि वह अपने समय में ब्राह्मणवाद और सामंतवाद दोनों से लड़ रहा था। इससे प्रेरणा लेकर ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद तीनों से लड़ने की जरूरत आज भी है।

vi.इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि हिंदी समाज अपनी सामाजिक संरचना में भीतर से आत्मविभक्त समाज रहा है। धर्म सिर्फ पारलौकिक, आध्यात्मिक या परा-जागतिक आकांक्षाओं तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि दैनंदिन जीवन-यापन की स्थितियों, सामाजिक संरचनाओं एवं व्यक्ति की हैसियत एवं सामाजिक आचरण को भी प्रभावित करता रहा है। यह घ्यान देने की बात है कि कदाचित हिंदू धर्म की सामाजिक संरचना का ही प्रभाव रहा होगा जिसके चलते इस्लाम के माननेवालों की सामाजिक संरचना में भी जाति-पाँति का भयानक प्रवेश हुआ। इस स्थिति को समझना होगा कि क्यों कबीर 'ना-हिंदू, ना-मुसलमान' की स्थिति तो अर्जित कर पाते हैं, लेकिन अपने को 'जुलाहा' बताने से परहेज नहीं करते हैं। कबीर की महानता इस बात में भी है कि वे इसके विषप्रभाव में नहीं पड़ते हैं। कबीर की सांस्कृतिक उद्यमशीलता में भिन्नतावादी सांस्कृतिक विषदंतों को तोड़ने का अभूतपूर्व सांस्कृतिक-सामाजिक साहस है।

vii.यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कबीर में 'समन्वय-चेतना' नहीं थी। कबीर का समन्वय निश्चित रूप से तुलसीदास से भिन्न और अधिक व्यापक भी था। तुलसीदास के समन्वय में हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों और उपासना पद्धति में, दार्शनिक मतों में, वैचारिक समन्वय का वर्ण-सापेक्ष पक्ष अंतर्निहित है। कबीरदास के समन्वय का धरातल तुलसीदास के समन्वय से बड़ा है। कबीर 'निर्विशिष्ट मनुष्यता' के विभाजन के थोथे

आधार को चुनौती देते हैं। कहना न होगा कि 'समन्वय' विचार का सकारात्मक पक्ष होता है। तुलसीदास का समन्वय 'निषेध' को समाहित कर आध्यात्मिक एकता की बात करता है। कबीरदास का समन्वय 'निषेध का निषेध' करते हुए सामाजिक एकता की बात पर बल देता है। लेकिन, 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।/ मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की देखी।/ मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।'[37]

viii.कहना न होगा कि कबीर के माध्यम से विकसित हो रहे भक्ति-मार्ग की दिशा धर्म की दिशा से अलग थी। अलग ही नहीं अपने सारतत्त्व में उस धर्म दिशा के विपरीत और प्रतिकूल भी थी। यह सच है कि भक्ति के सामाजिक परिप्रेक्ष्य ने धर्म को भीतर से बदलने का काम किया (देखें 2.iii)। यह भी सच है कि कबीर ने धर्म को बहुत मायने में नया बना दिया। लेकिन क्या कबीर ने किसी नये धर्म की बात सामने रखी थी? इस प्रश्न पर विचार करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं, 'इस देश का दुर्भाग्य यह रहा है कि यहाँ कभी दलित की अलग ओर स्वतंत्र पहचान नहीं बनने दी गई। इस दृष्टि से आगे बढ़ने पर पता चलता है कि दलित को सबसे पहला धोखा और नुकसान बुद्ध के धर्म की स्थापना के रूप में हुआ था। बुद्ध के समय में पृथक धर्म की सब से ज्यादा जरूरत दलित को थी लेकिन उसका नेतृत्व बुद्ध उड़ंग कर ले गए। बुद्ध के बाद पता चलता है कि दलितों को कबीर और रैदास के समय में यह जरूरत फिर जोरों से महसूस की गई। रैदास और कबीर के 'न हिंदू, न मुसलमान' कहने का मतलब यही था कि वे पृथक दलित धर्म के हिमायती और संस्थापक थे। लेकिन अकबर के रूप में एक बादशाह ने 'दीन-ए-इलाही' का धर्म खड़ा कर के उस धर्म को हड़पना चाहा जो अंत में सिक्ख धर्म के द्वारा निगल लिया गया।'[38] किसी भावुकता के कारण ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया की टेढ़ी-मेढ़ी गति-मति आँख से ओझल हो जाये तो इसी तरह के उद्गार प्रकट होते हैं! दलित धर्म का नेतृत्व बुद्ध 'उड़ंग' कर ले गये, क्या मतलब? क्या बुद्ध किसी साजिश में शामिल थे? ऐसा तो किसी ने भी नहीं कहा था! शायद, कबीर ने भी नहीं और डॉ. आंबेडकर ने भी नहीं। डॉ. धर्मवीर की दिक्कत यह है कि वे अपने भावातिरेक में कबीर से भी 'बड़े कबीर' की भाव-मुद्रा में पहुँच गये प्रतीत होते हैं।

ix.इसी भावातिरेक में वे तुलसी और सूर को 'छोटे जीव' घोषित करते हैं। 'हिंदी साहित्य के अध्ययन के नाम पर कबीर की बहुत छोटे या भिन्न लोगों से तुलना की जा रही है जो एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। यह संभव इसलिए हुआ है क्योंकि कबीर को मात्र एक भक्त मान लिया गया है। चूँकि तुलसी और सूर भक्त हैं इसलिए कबीर के मुकाबले में उन्हें खड़ा कर दिया जाता है। इस तुलना में यह बात एकदम भुला दी जाती है कि कबीर तुलसी और सूर की तरह भक्त नहीं हैं। किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि कबीर की तुलना तुलसी और सूर से नहीं की जानी चाहिए क्योंकि कबीर की टक्कर तुलसी और सूर के आराध्य देवों राम और कृष्ण से है। इसलिए, इस दृष्टि को ले कर कबीर की तुलसी और सूर से कोई समानता नहीं है। तुलसी और कबीर भक्त हैं जबकि इस मामले में कबीर अपने आत्म-ज्ञान के कारण भगवान होने की स्थिति पर पहुँचे हुए हैं। वास्तव में कबीर के सामने तुलसी और सूर बहुत छोटे जीव हैं। कहने का मतलब यह कि दलितों के भगवान की तुलना द्विजों के भक्तों से नहीं की जा सकती। यदि कबीर की तुलना की जानी आवश्यक हो तो उनकी तुलना बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद, राम और कृष्ण से की जानी चाहिए न कि इनके शिष्यों या भक्तों से।'[39] भक्त की भूमिका में कबीर का व्यक्तित्व बहुत बड़ा है, उनकी सामाजिक और ऐतिहासिक भूमिका भी बहुत बड़ी है। 'भक्त' के बदले 'भगवान' बनाने से कबीर के अवदान का आधार ही तहस-नहस हो जायेगा। आधुनिक समय के कुछ भगवानों को छोड़ भी दें तो भी 'तैंतीस कोटि' (कोटि का अर्थ प्रकार है करोड़ नहीं।) भगवान तो इनके पहले हो ही गये हैं। इस ऐतिहासिक सचाई को समझना चाहिए कि जिस लोक-धर्म का सामाजिक आधार कबीर के माध्यम से तैयार हो रहा था उस लोक-धर्म को 'भगवान' बनने-बनाने के मनोभवों के कारण बहुत नुकसान हुआ है। 'कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत निकल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास, आदि जितने प्रमुख संत हुए, सब ने कबीर का अनुकरण किया अपना अपना अलग मत चलाया।... सबने नाम, शब्द, सद्गुरू आदि की महिमा गाई है और मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जातिपाँति मिटाने का

प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्त्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं और उनके मतों में भी कर्मकांड घुस गया है।'[40]

x.तुलसीदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य की सामाजिक-समता की पैरवी नहीं करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-विषमता का, प्रकारांतर से और कभी-कभी सीधे भी, औचित्य प्रतिपादित करता है। कबीरदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता के साथ ही मनुष्य की सामाजिक-समता की भी पैरवी करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-समता औचित्य प्रतिपादन पूरी तार्किकता के साथ करता है। वस्तुत: धार्मिक आधार पर समता और सामाजिक आधार पर विषमता से एक विरोधाभासी जीवन-स्थितियों का जन्म होता है। इसके साथ ही, संवैधानिक स्तर पर समानता और आर्थिक-सामाजिक स्तर पर असमानता के स्वीकार के असर को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। डॉ. आंबेडकर बहुत ही सावधानी के साथ, आजादी और संविधान के हासिल होने के बाद उत्पन्न होनेवाली विरोधाभासी जीवन-स्थितियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णत: अभाव है। इनमें से एक समानता है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे भारत का समाज वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर आधारित है जिसका अर्थ है, कुछ लोगों के लिए उत्थान एवं अन्यों की अवनति। आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि समाज में कुछ लोगों के पास अथाह संपत्ति है जबकि दूसरी ओर असंख्य लोग घोर दरिद्रता के शिकार हैं। 26 जनवरी, 1950 को हमलोग एक विरोधाभासी जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारे बीच समानता होगी। राजनीति में हम एक-व्यक्ति एक-मत एवं एक-मत एक-मूल्य के सिद्धांत को स्वीकृति देंगे। पर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में वर्त्तमान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के चलते एक-व्यक्ति एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना जारी रखेंगे। हम कब तक इस विरोधाभासी जीवन को जीते रहेंगे, अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे ?'[41] धर्म की दृष्टि में समानता का समर्थन और सामाजिक हैसियत में अ-समानता स्वीकार भी इसी

तरह का विरोध रचता है। (देखें 3.iii) कबीर ने अपने समय में विरोधाभासी नहीं, विरोधी जीवन-स्थितियों की विसंगतियों को बहुत ही तीव्रता के साथ महसूस किया था (देखें 2.ii)।

4.हम कौन? किसके कबीर!

i.यहाँ, 'हमारा' का आशय बिल्कुल साफ तौर पर समझ और मान लेना होगा। यह काम ऊपर से जितना आसान दिखता है, वस्तुत: उतना आसान है नहीं। बल्कि काफी कठिन काम है। आज जातीय अस्मिताओं और वर्ग के विरुद्ध समुदाय को खड़े करने की बौद्धिक कोशिश हो रही है; 'हम' और 'वे' के नये आधार बनाये जा रहे हैं। इसलिए 'हम' के आशय को साफ कर लेना बहुत जरूरी है। इस 'हम' में वे सभी लोग शामिल हैं जो प्रत्येक स्तर पर समतामूलक समाज के आकांक्षी हैं। वे सभी लोग शामिल हैं जिनकी आँखों में सामाजिक 'अभिन्नताओं' को हासिल करने का सपना जिंदा है। यह ध्यान में रखना होगा कि 'सकारात्मक अभिन्नता' का विचार 'बहुलता' का विरोधी विचार नहीं है। कबीर के समय को भी ध्यान में रखना होगा। संत-साहित्य में धर्म के उपादान का उपयोग अवश्य है लेकिन उसका धर्म-बोध प्रचलित धर्म-बोध को चुनौती देता है। वह शास्त्र को चुनौती देता है। वह शास्त्र-धर्म को नहीं, लोकधर्म को अपनाता है। यह ध्यान देने की बात है कि शस्त्र स्थापित सत्ता को शक्ति का आधार प्रदान करता है और शास्त्र स्थापित सत्ता को विचार का आधार प्रदान करता है। स्थापित सत्ताओं में मनुष्य के बहुविध शोषण की प्रवृत्ति होती है। सत्ता में शोषण की यही प्रवृत्ति उसे भ्रष्ट करती है। इसलिए यह मान्यता विकसित हुई कि पूर्ण सत्ता पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है, अर्थात पूर्ण शोषण का आधार रचती है। शोषण से मुक्ति के लिए सबसे पहले सत्ता के वैचारिक आधार को चुनौती देना जरूरी होता है। शास्त्र के वैचारिक आधार को चुनौती देना, शास्त्र के सैद्धांतिक अनुशासन से बाहर निकलने की प्रेरणा बनता है। कविता अपने स्वभाव से ही शास्त्र को और इसलिए स्थापित सत्ता के वैचारिक आधार को चुनौती देती रही है। कविता का जन्म ही 'वेद' की परिधि से बाहर हुआ है। इसे वेद से कम महत्त्व का नहीं माना गया,

इसकी मान्यता 'पंचम वेद' के रूप में रही; 'न वेद व्यवहारोयं संश्राव्य: शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सावणार्णिकम।'[42]

ii.पुरखों को याद करते समय विरासत की छीना-झपटी सामने आ जाती है। कहना न होगा कि चूल्हा के बँट जाने से विरासत का झगड़ा काफी उलझ जाता है। कबीर चूल्हा के बाँटे जाने के खिलाफ संघर्षशील थे। संघर्षशील इसलिए भी थे कि उनके समय में भी चूल्हा बँटा हुआ था; विरासत की छीना-झपटी भी उसी समय शुरू हो गई थी। आज से छ: सौ साल पहले की दुनिया आज से बहुत भिन्न थी। इन छ: सौ सालों में दुनिया बहुत बदली है। इसके बावजूद भारतीय जीवन का एक सिरा आज भी वहीं फँसा हुआ है। इस फाँस को समझना होगा। आज के समय में कबीर को फिर से पढ़े जाने की जरूरत है।

iii.कबीर साहित्य में अस्मिता की भी जबर्दस्त छटपटाहट है। 'कबीर ने ही दलित पहचान का बीजवपन किया। पहली बार दलित अपनी लड़ाई खुद लड़ रहे थे। कबीर ही नहीं, सभी संत कवि दलित समुदाय से आये थे। वे कुछ सोचना, अनुभव करना और कहना शुरू कर चुके थे, जो दरअसल उनकी आत्मपहचान की खोज के चिह्न थे। उनकी आवाज की गरमाहट उनकी आर्थिक जिंदगी में आई गतिशीलता ओर उस जमाने की टेक्नोलॉजी में आये विकास का नतीजा थी। सदियो से दबाए-कुचले लोगों में एक अद्‍भुत स्वाभिमान आ रहा था।'[43] कबीर के अस्मिता-बोध को समझना होगा। कबीर जाति-पाँति के विरोधी और निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति आग्रहशील थे। कबीर देख पा रहे थे कि वर्ण-व्यवस्था के आधार पर किया जानेवाला व्यवहार -- चाहे वह व्यवहार प्रेममूलक हो या घृणामूलक हो -- वर्ण-व्यवस्था की स्वकृति को ही पुष्ट करता है। हम नहीं देख पा रहे हैं तो यह हमारी समस्या है। लेकिन क्या, कबीर को दलित संदर्भों, धार्मिक संदर्भों, संप्रदाय संदर्भों, आदि विच्छिन्न एवं खंडित आयामों के साथ ठीक से समझा जा सकेगा? शायद नहीं! लेकिन हमारी अपनी समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के कारण कबीर को खंडित रूप से अपनाना हमारे लिए अधिक सुविधाजनक होता है। कबीर सुविधा के संत नहीं हैं। इसलिए, जिन्हें कबीर के अनुभवों से सीखना है, उन्हें अ-सुविधा उठाने के लिए

भी अपने को तैयार करना चाहिए। ऐतिहासिक रूप से देखें तो सभ्यता के उदय से ही अस्मिता की तलाश मनुष्य को रही है। अस्मिता का द्वंद्व सभ्यता में गहरे सक्रिय रहा करता है और इसके कारण सामाजिकताएँ भी बँटती हैं। इस बँटवारे का नतीजा है कि 'ऐतिहासिक रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्तित्व कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण-भारत, बौद्ध-भारत और हिंदू-भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है।.... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[44] हमारे सामने चुनौती इन आत्मभंजक स्थितियों से निबटने की है। कबीर इसमें बहुत सहायक हो सकते हैं, यदि हम कबीर को कबीर रहने दें!

iv.यह शोध का विषय हो सकता है कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले के ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष का मुसलमानों के वर्चस्व के बाद क्या हुआ? पता किया जा सकता है कि कहीं मुसलमानों के वर्चस्व के बाद 'ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष' का पर्यवसान 'हिंदू और मुसलमान के धार्मिक द्वंद्व' में तो नहीं हो गया! कहीं ऐसा तो नहीं कि उसके बाद बौद्धों का बहुत बड़ा हिस्सा मुसलमान बन गया और उसका छोटा अंश ब्रह्मणवाद के हिंदुत्व के परिसर में सिमटकर आ गया। बहुत थोड़े-से ही बौद्ध बचे रह गये! इतिहास संकेत करता है कि हमले का वास्तविक शिकार बौद्ध हुए--- मुसलमानों और ब्राह्मणों दोनों की ओर से की गई चोट को बौद्ध बर्दाश्त नहीं कर पाये। इसे सिर्फ 'हिंदू-मुस्लिम' के द्वंद्व के रूप में देखने से भी गड़बड़ी हुई है।

v.यह ऐतिहासिक बात है कि 'हिंदू-मुस्लिम' के द्वंद्व (यहाँ इस 'द्वंद्व' को सांप्रदायिकता कहने से सतर्कतापूर्वक बचना चाहिए और इस द्वंद्व में बौद्धों को भी अदृश्यत:-शामिल[45] समझना चाहिए) में सामाजिक-अन्याय से ग्रस्त भारतीय-समाज के दलन और दमन का मुद्दा दब गया। इस द्वंद्व को बड़ी आसानी से सांप्रदायिकता में बदलकर आम अदमी के अधिकार की बात को राजनीतिक एजेंडे से गायब कर दिया जाता है। आधुनिक समय का एक ऐतिहासिक अनुभव उललेखनीय है, 'अगस्त 1932 में

मैकडोनल्ड ने सांप्रदायिक मामले में जो निर्णय दिया था, उसमें हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात भी थी। इससे गाँधीजी को यह बात सूझी कि वे अपना ध्यान मुख्य रूप से 'हरिजन'-कल्याण पर केंद्रित करें। 20 सितंबर को गाँधीजी ने हरिजनों के लिए अलग निर्वाचकमंडल के मुद्दे के विरुद्ध 'आमरण अनशन' आरंभ कर दिया, और अंत में सवर्ण हिंदू एवं हरिजन नेताओं के बीच एक समझौता (पूना समझौता) कराने में सफल हुए। इस समझौते के अनुसार मैकडोनल्ड के प्रस्ताव में परिवर्त्तन किये गये। हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचकमंडल बने रहे जिनमें अछूतों के लिए आरक्षित सीटें रखी गई और मैकडोनल्ड की तुलना में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व भी दिया गया। यही व्यवस्था थी जो मूलत: 1947 के बाद भी बनी रही।'[46] मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने की राजनीतिक स्थिति के उत्पन्न होते ही अयोध्या में रामजन्मभूमि पर मंदिर बनाने के नाम पर सांप्रदायिकता का कैसा उफान आया यह तो हमारा बिल्कुल ताजा अनुभव है।

vi.कबीर मनुष्यता की जिस उच्च-भूमि पर खड़े होकर अपने समय और समाज को संबोधित कर रहे थे, उस भूमि की ठीक-ठीक सांस्कृतिक पैमाइश की जाये तो हमें उनके व्यक्तित्व की विराटता का थोड़ा-बहुत एहसास हो सकेगा। शायद तभी हम समझ पायेंगे कि वे मनुष्य की एकता के लिए किस प्रकार 'शास्त्र-धर्म' से सीमित न होकर 'लोक-धर्म' के साथ फैल जाना चाहते थे। आलोचना भी मुख्य रूप से देखने का ही काम है। कबीर भी देखने पर इतना जोर देते हैं, तो इसे उनके आलोचनात्मक-विवेक से जोड़कर देखना ही उचित होगा। कबीर के आलोचनात्मक-विवेक (देखें 7.v) की ताकत का अंदाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि 'धर्म' देखने की नहीं मानने की बात करता है, दर्शन की नहीं अनुसरण का आग्रह करता है। देखने का बहुत हठ हो तो धर्म आँख बदलने के बाद ही देखने की इजाजत देता है, इस तर्क के साथ कि 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षु: पश्य मे योगमैश्वरम।।'[47] यह कम बड़ी बात है कि ऐसे माहौल में भी कबीर साफ-साफ देख पा रहे थे ! वे 'कागद लेखी' को किन 'आँखन देखी' के आधार पर अ-पर्याप्त मान रहे थे? कबीर क्या देख रहे थे? कबीर देख रहे थे कि

शास्त्र धर्म की माया किस तरह रूप बदलती है, 'माया महा ठगनि हम जानी।/ तिरगुन फाँसि लिये कर डोले, बालै मधुरी बानी।।/ केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी। पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ में हू में पानी।।/ जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर के रानी।/ काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।।/ भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।/ कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।'[48] कबीर मनुष्य के बिगड़े हुए स्वभाव के कारण भाव में अ-भाव के कष्ट से गुजरा कर रहे जीवन को देख रहे थे; कबीर देख रहे थे और हँस रहे थे कि कैसे पानी बीच मीन प्यासी रह जाती है, 'पानी बिच मीन पियासी।/ मोंहिं सुन सुन आवै हाँसी।।/ घर में वस्तु नजर नहिं आवत। बन बन फिरत उदासी।।/ आतमज्ञान बिना जग झूँठा। क्या मथुरा क्या कासी।'[49] कबीर जो भोग रहे थे उसे देख भी रहे थे। कबीर इसलिए भी महान हैं। साधारण जन जो भोगते हैं वह देखते नहीं, जो देखते हैं वह भोगते नहीं; और कबीराई आँख से हँसते और रोते तो बिल्कुल ही नहीं हैं! कबीर हँसते ही नहीं रोते भी थे, जागते थे और रोते थे! कबीर जागते हुए क्या देखकर रोते थे? कबीर 'शास्त्र' और 'सत्ता' के 'दुइ पट' में फँसे जीवन को देखकर रोते थे, 'चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय। दुइ पट भीतर आय के, साबित गया न कोय।।'[50] कबीर सिर्फ हँसते और रोते ही नहीं थे, 'प्रेम राग से मन मत्त' होने पर नाचते भी थे, 'नाचु रे मन मत्त होय।/ प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।'[51] 'मन मस्त' होने पर चुपचाप बुद्ध की तरह मंद-मंद मुस्काते हुए कहते थे, 'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।/ हीरा पायो गाँठ गठियाओ, बार बार वाको क्यों खोले।'[52]

vii.विद्यापति ने 'देसिल बअना' को 'अवहट्ठ' नहीं बल्कि उसके समान कहते हुए उसे 'सबजनमिट्ठा' कहा था--- 'देसिल बअना सबजनमिट्ठा, तञे तइसन जम्पञोअवहट्ठा'।[53] यह महत्त्वपूर्ण है कि 'देसिल बअना' को 'सबजनमिट्ठा' विद्यापति ने कहा था लेकिन संस्कृत को 'कूप-जल' और भाखा को 'बहता नीर' कहने का साहस तो कबीर के पास ही था। ऐसा निष्कपट साहस कबीर के पास था तभी तो 'वे साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर उन्होंने भाषा

के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।'[54] बुद्ध ने पालि और महावीर ने प्राकृत जैसी जनभाषाओं को अपनाकर संस्कृत को पहले ही छोड़ दिया था, भाषा उनका भी लक्ष्य नहीं था। लेकिन संस्कृत तो ठहरी 'सुसंस्कृत' लोगों की देवभाषा! इतनी आसानी से जनभाषा के लिए जगह कैसे खाली कर सकती थी? संतों ने अपनी जनवाणी के लिए देवभाषा पर भरोसा करने के बदले जनभाषा पर भरोसा किया; भरोसा किया और इसीलिए देवभाषा की जगह पर जनभाषा सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित भी हुई। हालाँकि हिंदी और आधुनिक कही जानेवाली कई भारतीय भाषाओं को संस्कृत का अवतार बनाने की कोशिशें कम नहीं हुई हैं; ये ना-हक कोशिशें हिंदी में हाल-फिलहाल तक जारी रही हैं। इन्हीं कोशिशों के भ्रम में पड़कर कुछ लोग हिंदी को हिंदुत्व से ना-हक जोड़ कर संदेह की नजर से देखते हैं। बहरहाल, संस्कृत को चुनौती देने का सीधा मतलब उसके प्रयोग के आधार पर पल रहे वर्ग के हितपोषण में लगी शक्तियों को ही तो चुनौती देना था! निश्चित रूप से इस चुनौती को कबीर पूरी ताकत से प्रस्तुत कर रहे थे। इस चुनौती की समझ में अस्मिता का सवाल भी निहित है। इसे कबीर प्रवर्त्तित भक्ति के सरोकारों को व्यापक फलक पर देखने-परखने से ही समझा जा सकता है।

viii.आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में, 'कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिन से (अगर उपयोग किया जाये तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परंतु आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के वाह्य आचारों और अंतर संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न

करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे।'[55] किसी भी चीज का उपयोग तो हम अपनी जरूरत के हिसाब से ही करते हैं। क्या समाज-सुधार हमारी जरूरत नहीं है? अगर है, तो उनके समाज-सुधारक रूप को क्यों नहीं प्रमुखता से चिह्नित किया जाये? ऐसा करने में हिचक क्यों है! अभिव्यक्त होते ही, समाज को संबोधित होते ही व्यक्ति का सामाजिक स्वरूप सामने आता है। सर्वाधिक प्रखरता और प्रश्नाकुलता के साथ सब को संबोधित करनेवाले कबीर अपनी साधना में व्यष्टिपरक कैसे हो सकते हैं! वैयक्तिकता और सामाजिकता के अंतस्संबंध इतने सरल नहीं होते हैं। 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना' यदि समष्टि-वृत्ति का होना, सामाजिक होना नहीं है तो सामाजिक होना और क्या हो सकता है? (देखें 3.vii और 5.vi)। 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में नहीं था, लेकिन जो कबीर में था वह क्या इस भाव से अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रामाणिक और प्रासंगिक नहीं है? इस पर विचार करना जरूरी है (देखें 7.i)।

5.भक्ति का उद्भव --
तेन कलाई और वेद कलाई का द्वंद्व

i.भक्ति के उद्भव के बारे में जॉर्ज ग्रियसर्न और आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर बाद के कई विद्वानों की कई तरह की मान्यताओं के बाद अब यह मान्य है कि 'भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानंद'। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही रेखांकित किया है कि 'असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे सवीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध

मायावाद का किया गया।'[56] भक्ति के उद्भव का यह 'तात्त्विक' प्रसंग हो सकता है। इसके ऐतिहासिक और सामाजिक प्रसंग क्या हैं? इन ऐतिहासिक और सामाजिक प्रसंगों को उद्घाटित करने में आलोचना की गहरी रूचि होनी चाहिए।

ii.कबीर के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास। परंतु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अंतर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे।'[57] इस प्रतिद्वंद्विता के मूल में पुरोहितवाद के प्रति दृष्टिकोण में तात्त्विक अंतर था। इसीलिए, तुलसीदास और कबीरदास में बड़ा अंतर था। यह अंतर सिर्फ उनके व्यक्तित्व के कारण नहीं था। यह अंतर वस्तुत: व्यक्तित्व को बनानेवाले उनके सामाजिक अवस्थान, हित-बोध और दृष्टिकोण, आदि के कारण था। कबीर को समझने के लिए बार-बार इस बात को समझना होगा। असल में कबीरदास के सामने तुलसीदास की चुनौती नहीं थी। बल्कि, तुलसीदास के सामने कबीर की चुनौती थी। 'तात्त्विक' दृष्टि से 'सगुनहिं अगुनहिं, नहिं कुछ भेदा' के सच या मिथ्या होने का चाहे जो महत्त्व हो, लेकिन ऐतिहासिक रूप से इसका जबर्दस्त सामाजिक महत्त्व है। यह महत्त्व तब समझ में अधिक स्पष्टता से आता है जब हमारे सामने यह सवाल पूरी निश्छलता से खड़ा होता है कि क्यों अधिकतर, शायद सभी, सवर्ण कवि अनिवार्यतः 'सगुणोपासक' ही थे और गैर-सवर्ण कवि अनिवार्यतः 'निगुर्णोपासक' थे। सवाल पूछा जा सकता है कि क्यों 'सगुणोपासक' 'राम-कृष्ण-शिव' के एकत्व की बात तो बहुत जोर-शोर से करता है लेकिन 'केशव-करीम' या 'राम-रहीम' के एकत्व के मामले में खामोश रहता है, जबकि 'निगुर्णोपासक' इस मामले में उल्लेखनीय ढंग से मुखर रहता है। 'लोक-धर्म की भक्ति', 'शास्त्र-धर्म के ढाँचे की कोष्ठबद्धता से बाहर' निकलकर उनके मनुष्यतर बनने की प्रेरणा बन रहा था। गोरखनाथ, नामदेव, कबीर, दादूदयाल, रज्जबजी आदि के संदर्भ से हम समझ सकते हैं कि सामाजिक एकता के संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष होकर किस प्रकार धार्मिक हुआ जा सकता है (देखें 7.i)। धर्म मूलत: उस लोक का मामला माना जाता है।

संत कवियों के यहाँ भक्ति के संदर्भ पूर्णत: इसी लोक से संबंधित है। यह स्थिति उस राजतंत्र में थी जिस राजतंत्र में देश के शासन की बागडोर उन मुसलमान शासकों के हाथ में थी, जिन्हें आज कट्टर और क्रूर बताया जाता है। इस पूरे प्रकरण में, दुहराव की चिंता किये बिना कहना जरूरी है कि उस समय सवर्ण कवियों की वाणी में उदात्त चेतना चाहे जितनी रही हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं, या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही है। यह महज संयोग नहीं है। इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है (देखें 5.vii)। जब आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ' तो उस 'हजार वर्ष के इतिहास' में तुलसीदास भी शामिल हैं, ध्यान में होना ही चाहिए कि तुलसीदास कबीर के बाद हुए हैं। तुलसीदास के होने के बाद भी यह सच है कि 'कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ'।

iii.यह ऐतिहासिक सच है कि शुरू से ही मनुष्य ने अपने सामाजिकता में 'शास्त्र' अनुमोदित सत्ता-सहचरी नैतिकताओं की घेरेबंदी को तोड़कर जीवन को महत्त्व देने का अथक प्रयास करता आया है, जबकि ऐसे सभी प्रयासों को सत्ता फिर से अपनी अनुकूलता में लेने के लिए उन्हें 'शास्त्रीय विधानों' में जकड़ती आई है। इसके लिए जरूरी होने पर शास्त्र ने चतुराई से अपने को बदला भी है। 'समन्वय के लिए तुलसीदास का झुकना' (देखें 5.vi) अपने समय में इस तरह की चतुराई से बहुत मुक्त नहीं प्रतीत होता है। इसी तरह की चतुराई का नतीजा है कि बुद्ध को आत्मसात कर लेने से उपेंद्र (विष्णु), अर्थात् उप-इंद्र तो इंद्र से बड़े हो जाते हैं, लेकिन बौद्ध परे धकेल दिये जाते हैं! यह काम इतनी सफाई से होता है कि कई बार यह पता भी नहीं चलता है कि जिससे मुक्त होने के लिए सारा संघर्ष था, कब वही चुपके से 'हितैषी और सलाहकार' बनकर साथ हो गया। भक्ति की मूलचेतना हर प्रकार के धार्मिक बाह्याचार से मुक्ति की रही है। धार्मिक बाह्याचार से

मुक्ति के सरोकार के रसायन को समझने के लिए उसके सामाजिक संदर्भों को गहराई से जानना और जाँचना-परखना जरूरी है। धार्मिक बाह्याचार से मुक्ति का सामाजिक तात्पर्य पुरोहितों के चंगुल से बाहर निकलने के अलावे और क्या हो सकता है! पुरोहितों के चंगुल का अर्थ जानने के लिए पुरोहितों को जानना जरूरी है। इतिहास बताता है कि 'जनजातीय अवस्था में लगभग सभी लोग जीवनयापन के साधन जुटाने और उत्पादन कार्य में लगे रहते थे। पर वैदिकोत्तर काल आते-आते इस प्रकार का श्रमविभाजन (उद्धरण नहीं: जो श्रमिक विभाजन का आधार बना) सुनिश्चित हुआ जिसके अनुसार थोड़े-से लोग अनुत्पादक और प्रबंधकीय कार्य में लग गये और अधिकांश लोगों को खेती और शिल्प जैसे उत्पादन कार्य में लगाया गया। वर्ण व्यवस्था के द्वारा इस सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ किया गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय को धर्म और शासन चलाने का दायित्व मिला और अन्य वर्णों को पैदा करने और कर देने का। विभिन्न वर्णों का धर्म क्या है, इसका प्रावधान धर्मशास्त्रों में किया गया। इस व्यवस्था के अनुसार राजा धर्म अर्थात् विधि का संरक्षक ही नहीं वरन् धर्म के नष्ट होने पर उसका प्रवर्त्तक भी बना। अर्थात् वह वर्ण विभाजित समाज का पोषक बना। इसी कारण उसके लिए 'धर्म महाराज' और 'धर्म प्रवर्त्तक' जैसी पदवियों का प्रयोग किया जाने लगा। 'धर्मराज' की पदवी केवल युधिष्ठिर को ही नहीं दी गई वरन् जैसा कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के अभिलेखों से प्रकट होता है, अनेक राजाओं ने अपना नाम ही 'धर्मराज' रखा। ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख बताते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और संरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा अभिलेखों में आम तौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक संकट आरंभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के पौराणिक पाठ्यांशों से पता चलता है कि आंतरिक संकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के अभिलेखों में स्पष्ट रूप से ओर बाद के पुरा लेखों में पारंपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया

है। पल्लव राजा सिंहवर्मन के लिए 'कलियुग दोषावसन्न -- धर्मोद्धारेण सन्नद्ध' (कलियुग के दोषों से अवसन्न धर्म के उद्धार के लिए सन्नद्ध) विशेषण का प्रयोग किया गया है।'[58]

iv.यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि 'असोक के बाद राज्य ने एक नये कार्य को आगे बढ़ाने का जिम्मा लिया--- विभिन्न वर्गों में समन्वय स्थापित करना। अर्थशास्त्र ने इसकी कल्पना भी नहीं की थी, और असलियत यही है कि समाज के वर्गों का उदय एक प्रकार से उन छिद्रों से हुआ है जो भारतीय राजतंत्र--- व्यापक पैमाने पर भूमि की सफाई, भूमि अधिवास तथा अत्यधिक नियंत्रित व्यापारवाले राजतंत्र--- में पैदा हो गए थे। समन्वय के इस कार्य के लिए विशेष अस्त्र था--- नए अर्थवाला सार्वभौमिक धम्म। नवोदित धर्म ने राजा और नागरिक के आपसी मेल-मिलाप के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। आज भले ही यह सर्वोत्तम उपाय न प्रतीत हो, पर उस समय वह तुरंत कारगर सिद्ध हुआ। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि असोक के समय से भारत के राष्ट्रीय चरित्र पर धम्म की छाप लग गई। धम्म शब्द का अर्थ शीघ्र ही 'समदृष्टि' से बदलकर भिन्न हो गया, यानी 'धर्म' हो गया--- पर यह वह धर्म नहीं था जिसे स्वयं असोक ने खुले आम स्वीकार किया था। इसके बाद भारतीय संस्कृति के विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही कि इस पर किसी-न-किसी धर्म का भ्रामक बाह्य आवरण सदैव चढ़ा रहा।'[59] डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया।'[60]

v. 'कौटिल्य ने लोगों को राजा के देवत्व की प्रतीति कराने के लिए अनेक प्रकार के प्रचार अधिकारियों की व्यवस्था की है। इस कार्य के लिए सात प्रकार के अधिकारियों को राज्य की सेवा में प्रवृत्त करना है। वे हैं –

ज्योतिषी (दैवज्ञ), भविष्यवक्ता, मौहूर्तिक, पौराणिक (कथावाचक), ईक्षणिक (संभवत: एक प्रकार के देवज्ञ, जो प्रश्नोत्तर के क्रम में भविष्य का शुभाशुभ बताते थे, गुप्तचर और

साचिव्यकर (राजा के सहचर)। ''अर्थशास्त्र '' में अन्यत्र प्रथम चार का उल्लेख पुरोहित वर्ग के सदस्य के रूप में हुआ है। यह लोकमत तैयार करने में पुरोहितों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रभाव है।'[61] पुरोहित का काम 'कलियुग के सामाजिक संकट' से निपटने के लिए राजा की मदद करना, अर्थात 'वर्णव्यवस्था के बिखराव' को रोकने का प्रयास करना था। कहना न होगा कि तुलसीदास भी 'वर्णव्यवस्था के बिखराव' से काफी परेशान थे। वे इस बिखराव को रोकने के लिए भी प्रयासरत थे, इस अर्थ में वे नये तरीके से पुरोहित का ही काम कर रहे थे। 'वर्णव्यवस्था को बिखराव' में डालने का काम कबीरदास कर रहे थे। यही वह जगह है जहाँ समझना जरूरी है क्यों 'महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास।'[62] (देखें .vii) क्या याद दिलाने की जरूरत है कि कबीर पहले हुए थे, कबीर तुलसीदास के प्रतिद्वंदी नहीं थे, बल्कि तुलसीदास कबीर के प्रतिद्वंदी थे!

vi. 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।... लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय--- रामचरित-मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।... समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि रामचरित-मानस के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह शुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता।... आज चार सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।'[63]

जिस भक्त के चिंतन में 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझने' का मनोभाव सक्रिय हो उससे बड़ा समन्वयकारी और कौन हो सकता है! (देखें 4.vi) यह सच है कि कबीर का समन्वय झुकने-झुकानेवाले समन्वय से भिन्न है, क्योंकि वे झुकने-झुकानेवाले समन्वयों (बुद्ध और गीता के प्रसंग में) का सांस्कृतिक परिणाम देख रहे थे। जिस रामचरित-मानस के हवाले से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आज के उत्तर-भारत को तुलसीदास का रचा हुआ बताते हैं, तुलसीदास के रचे उस उत्तर-भारत में 'ब्राह्मण और चाण्डाल' का समन्वय हो गया है! नहीं हुआ है और फिर भी आज का उत्तर-भारत तुलसी का रचा हुआ माना जाता है, तो गड़बड़ी कहाँ है? आलोचना को इस सावल को खोलना ही होगा। जिस 'रामचरित-मानस' को आज के उत्तर-भारत को रचने का श्रेय आचार्य द्विवेदी देते हैं इसमें कुछ तो सचाई है ही! क्या है वह सचाई? 'रामचरित-मानस' के बारे में नागार्जुन कहते हैं, 'रामचरितमानस हमारी जनता के लिए क्या नहीं है? सभी कुछ है! दकियानूसी का दस्तावेज है... नियतिवाद की नैया है... जातिवाद की जुगाली है। शामंतशाही की शहनाई है! ब्राह्मणवाद के लिए वातानुकूलित विश्रामागार... पौराणिकता का पूजा-मंडप... वह क्या नहीं है! सब कुछ है, बहुत कुछ है! रामचरितमानस की बदौलत ही उत्तर भारत की लोकचेतना सही तौर पर स्पंदित नहीं होती। 'रामचरितमानस' की महिमा ही जनसंघ के लिए सबसे बड़ा भरोसा होती है हिंदी भाषी प्रदेशों में।'[64] भक्ति काल के ही एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवि जायसी के पद के आधार पर नामकरणवाले दूधनाथ सिंह के उपन्यास 'आख़िरी कलाम' का एक प्रसंग इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, 'एक बड़ा कवि है और अपनी हस्ती और हैसियत से बखूबी परिचित है। उसे अपने ग्रन्थ और विचारों के लिए एक मूढ़ और अंधी आस्था तैयार करनी है। जाने-अनजाने वह यही कर बैठता है। बहुत ही सघन कवित्व है लेकिन विचारों की तानाशाही में जाकर खत्म होता है।... उसी अंधी आस्था का कमाल है यह.... जो आप देख रहे हैं -- उसी वैचारिक तानाशाही का कमाल। जो अब जाकर उभरा है। जो कथा 1575 ई. में रची गई, उसका असर चार सौ वर्षों बाद उजागर हो रहा है। यह है गोस्वामीजी का घटाटोप। एक ऐसा उत्कृष्ट कविकर्म जो विचारों की इजारेदारी में बदल गया। शायद तुलसीदास को भी

इसकी कल्पना नहीं रही होगी। लेकिन कोई भी कवि-कर्म अगर हिंसक धर्मग्रन्थ में परिणत हो ताए तो उसे आप क्या कहेंगे?'[65] यह समझना ही होगा कि 'कबीर का सवप्न क्यों बिखर गया? तुलसी कबीर से सौ साल बाद होकर भी कबीर से अधिक मुखर क्यों नहीं हो सके? भक्ति पुन: धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में क्यों बदल गई?'[66] तुलसीदास मुखर नहीं, 'चिंताग्रस्त' और 'चिंतनरत' थे! 'भक्त' तो थे ही!

vii. 'तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (Balance) की रक्षा करते हुए, एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की और अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन भारत का नया जन्म होगा।'[67] और कबीर? कबीर के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी कहते हैं, 'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है -- बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।'[68] 'अपने-आप' बनते गया है! क्या मतलब? 'घूणाक्षर-न्याय' की तरह अपने-आप बनते गया है! क्या हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रति असहिष्णु हैं? इस सवाल का जवाब देना न तो बहुत प्रासंगिक है और न मकसद ही है। लेकिन कबीर के मामले में उनका आलोचनात्मक रवैया सीधी-सरल रेखा से समझ में नहीं आता है। क्या किसी ना-समझी में यह संदेह पुष्ट होता है! यह सच है कि कबीर को फिर से सामने लाने का आलोचनात्मक दायित्व ऐतिहासिक रूप से सबसे अधिक तत्परता से उन्होंने निभाया है। शांतिनिकेतन में रहते हुए उन्हें कबीर के महत्त्व का अंदाजा लग गया था। बंगाल के नवजागरण के सूत्रकारों से उनका निकट का संबंध बना था। नवजागरण के सूत्रों से उन्हें कबीर नये संदर्भ में महत्त्वपूर्ण लगने लगे थे। वे महिमा में कबीर की प्रतिद्वंद्विता तुलसी से होने को देख रहे थे। दिक्कत यहीं हो गई। सही स्थिति यह थी कि कबीर की तुलसी से नहीं, तुलसी की कबीर से प्रतिद्वंद्विता थी। यहाँ नवजागरण के ज्ञानोदय ने नहीं आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी के अपने संस्कार ने अपना खेल दिखाया और प्रतिद्वंदिता का क्रम बदल गया। असल में, बाद में होने का लाभ तुलसी को मिला। उन्होंने कबीर समेत भक्ति के पूरे सामाजिक पाठ को उलटकर उसे फिर से सामंतवाद, शास्त्र-धर्म और वर्ण-व्यवस्था में समेट लिया। तुलसीदास का यह प्रभाव हिंदी क्षेत्र में गहरा पड़ा, लेकिन हिंदी-क्षेत्र से बाहर तुलसी का प्रभाव पड़ा ही नहीं या फिर बहुत फीका पड़ा। दोनों का प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने था। इन प्रभावों का द्वंद्व उनके भीतर था। इसी द्वंद्व का नतीजा है कि वे आलोचना की नजर से इस बात को सैद्धांतिक रूप से ठीक ही देख रहे थे कि 'ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं' लेकिन अपने संस्कारगत दबाव के कारण व्यावहारिक रूप से 'प्रधान ध्वनित वस्तु' को 'बाई प्रोडक्ट' और 'फोकट का माल' कह रहे थे। काव्य रचना कबीर की प्रतिज्ञा नहीं थी तो तुलसी की भी प्रतिज्ञा नहीं थी। फिर तुलसी का काव्य 'अद्वितीय' कैसे हो गया और कबीर का काव्य 'फोकट का माल' कैसे हो गया !

viii.'सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्त्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम-से-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण में आज की भाँति ही जाति-विचार अत्यंत जटिल अवस्था में था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, इन जाति-विचार-शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं लेकिन समाज के व्यवहार में जाति-भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग भोजन करेगा, क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति-भोजन में ही उठता है। इसी को दक्षिण में 'तेन कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पंद्रहवीं शताब्दी में वेदांतदेशिक ने वेदवाद और

प्राचीन रीति को पुन: प्रवर्त्तित किया। इसी को वेदवाद या 'वेद कलाई' कहते हैं। 'तेन कलाई' वालों ने विवाह में होम ओर विधवा का मस्तक-मुंडन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदांतदेशिक ने पुनर्वार इन आचारों को जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज था, जो क्रमश: शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह हम ठीक से नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहाँ तक दार्शनिक रूप दिया है।'[69] जिस प्रकार 'वेद कलाई' ने दक्षिण में 'तेन कलाई' को पलट दिया उसी प्रकार उत्तर में भक्ति की मूल-चेतना को 'सगुणोपासना' ने उसके स्वाभाविक पथ से भटका दिया। भक्ति के प्रभाव में तेजी से तुच्छ और निरर्थक होते जा रहे पुरोहितवर्ग के लिए 'सगुणोपासना' के माध्यम से फिर जगह बनने लगी। अकारण नहीं है कि 'निर्गुण' के उपासक गैर-सवर्ण थे जबकि 'सगुण' के उपासक सवर्ण थे। 'निर्गुण' के उपासक के लिए रोजी-रोटी का जरिया उनकी उपासना नहीं थी जबकि जबकि 'सगुण' के उपासक के लिए रोजी-रोटी का जरिया उपासना ही थी (देखें 5.vii)।

ix.कबीर के गीत उनके 'ब्रह्म विचार' हैं, लेकिन उसमें मनुष्य का समष्टि-भाव का सामाजिक और जागतिक परिप्रेक्ष्य भी साफ है। जिनको भजन से भोजन नहीं मिलता है, और जिनको भजन से ही भोजन मिलता है, उनके भजन-भाव में अंतर होता ही है। आखिर, भूखे भजन तो होता नहीं! उनके नाम सुमिरन माहात्म्य के बोध में भी अंतर होता है। हालाँकि कबीर नाम सुमिरन के मत्त्व को जानते हैं, लेकिन उसे वे पर्याप्त नहीं मानते हैं। वे कथनी और करनी की एकता की भी बात करते हैं। उन्होंने चेताया था कि 'पंडित बाद बदंते झूठा।/ राम कह्यां दुनिया गति पाबै, षाँड कह्याँ मुख मीठा।।/ पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।/ भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।।'[70] पानी कहने से प्यास मिट जाती, भोजन कहने से भूख मिट जाती, तो फिर कया बात थी! ऐसा अगर नहीं है, तो सिर्फ नाम जपने से क्या होता है! आदमी की संगत में तोता भी राम नाम जप सकता है। लेकिन तुलसीदास मानते हैं, 'नाम सुमिरन

सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे।।'[71] कबीर और तुलसी के 'नाम सुमिरन' के महात्म्य में अंतर है (देखें 6.i)।

6. पांडे कौन कुमति तोहि लागी

i.कबीर पर 'तात्त्विक दृष्टि' से बहुत विचार हुआ है। 'तत्त्व' में बदलाव नहीं आता है, 'स्थिर' और 'अटल' होकर ही वह तत्त्व और शास्त्र बनता है। संत-साहित्य का लोकधर्म शास्त्र से प्रेरणा नहीं लेता है, शास्त्र का प्रयोग जरूर करता है। कहना न होगा कि प्रयोग करने और प्रेरणा लेने में भारी अंतर होता है। 'धर्म' शास्त्र से प्रेरणा लेता है, जीवन और लोकाचरण में प्रयोग नहीं करता है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेने के बदले उसके विरोध में जाने का 'जोखिम' उठाते हुए भी उसका जीवन और लोकाचरण में भरपूर प्रयोग करती है। क्योंकि भक्ति कुमति को पहचानती है, 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।/ वेद पुरान पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन अस जैसैं भारा।' जाहिर है 'राम नाम जपना' और 'वेद पुरान' पढ़ना दोनों अपनी-अपनी वस्तुवाचकता और अपने पदार्थ-बोध में एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। तुलसीदास के 'नाम सुमिरन सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे।।' में और कबीरदास के 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।' में तात्त्विक अंतर है। तुलसीदास का 'नाम सुमिरन' 'वेद पुरान' के अतिरिक्त और 'वेद पुरान' का विस्तार है, कबीरदास का 'राम नाम जपना' उस 'वेद पुरान' का विकल्प और उस 'वेद पुरान' से निस्तार का मार्ग है। इस अंतर का संबंध उनके सामाजिक अवस्थान से है। असल बात यह है कि अपने समय की जीवन-स्थितियों के कारण 'भक्ति' 'शास्त्र के खर-चंदन-भार' से 'धर्म' को मुक्त करने के क्रम में अंतर्धार्मिक और धर्मातीत रास्ता अख्तियार करती है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में--- या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है। उन धर्मों का असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मल्लिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं।

संत-साहित्य की अपनी विशेषताएँ हें जो मूलत: किसी प्राचीन धर्मग्रंथ पर निर्भर नहीं हैं।'[72] इतिहास गतिशील रहता है। आनेवाला समय गुजरे हुए समय की समझ को बार-बार परखने की चुनौतियाँ देता है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में--- या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है', इसीलिए भक्ति को धार्मिक परिप्रेक्ष्य के बाहर और 'भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों' के परिप्रेक्ष्य के अंदर से समझना और स्वीकारना ही उचित और उपादेय है। लेकिन यह काम आलोचना तत्परता से नहीं कर सकी है (देखें 2.v)। तुलसीदास में भक्ति का धार्मिक परिप्रेक्ष्य अधिक है और कबीरदास में सामाजिक परिप्रेक्ष्य अधिक है। तुलसीदास ने भक्ति साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ला खड़ा किया जिससे 'भक्ति' के गौण होते जाने और 'धर्म' के प्रमुख होते जाने का मार्ग प्रस्तुत हुआ। इस अर्थ में तुलसीदास के भक्त होने के बावजूद उनकी धार्मिक-चेतना, भक्ति की मूल सामाजिक चेतना का विरोध रचती है। वस्तुत: आज कबीर पर 'तात्त्विक-दृष्टि' से अधिक 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से विचार करने की जरूरत है।

ii.देशी-विदेशी विद्ववानों ने इस बात को गहराई से समझा है कि कई बार बुद्धि-विरोधी और लोक-विरोधी प्रतीत होने के बावजूद 'तात्त्विक-दृष्टि' के गर्भ से विकसित मान्यताओं और आचरणों की शृँखलाओं का 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध सांस्कृतिक विद्रोह और पुनर्निर्माण में बड़ी गहरी और सकारात्मक भूमिका रही है। 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से देखें तो, सांस्कृतिक विद्रोह और पुनर्निर्माण की मुख्य आकांक्षा लोक-चेतना को निर्मित करती रहती है। इस लोक-चेतना का उपयोग सामाजिक संरचना के पुनर्निर्माण, राजनीतिक परिवर्त्तन और मनुष्य की मुक्ति के काम में साहसपूर्वक किया जा सकता है। भारतीय समाजों के संदर्भ में, और खासकर हिंदी समाजों के संदर्भ में, यह काम अधूरा क्यों रह गया है? यह सवाल इतिहास की ऐसी रसौली है, जिसकी टीस से भारतीय समाज और खासकर हिंदी समाज आज भी बहुत बेचैन है। (देखें 1.ii)

iii.औपनिवेशिक अवरोध से इतिहास के स्वाभाविक प्रवाह में कितना बड़ा व्यतिक्रम हुआ, कहाँ-कहाँ इस अवरोध ने इतिहास की स्वाभाविक धाराओं का न सिर्फ पथांतर बल्कि दिशांतर भी कर दिया! 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से कबीर का अध्ययन करने के क्रम में इतिहास की धाराओं के पथांतर और दिशांतर से एक अदृश्य अवरोध बराबर बना रहता है। भ्रम से बचने के लिए, यहीं एक बात साफ कर देना जरूरी है। यहाँ, 'औपनिवेशिक अवरोध' का आशय 'बाह्य औपनिवेशिकता' से सीमित ओर सरलीकृत नहीं है। यहाँ, 'औपनिवेशिक अवरोध' का आशय बहुत ही बेचैनी के साथ 'आंतरिक औपनिवेशिकता' तक विस्तृत और जटिल है।

7.सांप्रदायिकता का शास्त्र और कबीर का मत

i.सामान्य अनुभव यह है कि सांप्रदायिकता अपने चरित्र में निषेधात्मक और जटिल होती है। सांप्रदायिकता अपने समूह से बाहर के किसी समूह और उस समूह के सदस्यों को अपने समूह एवं समूह के सदस्यों की तुलना में हेय मानकर चलने का पूर्वग्रह बनाती है। सिर्फ धर्म ही नहीं वर्ण, जाति, नस्ल, क्षेत्र, मातृभाषा जैसे अपरिवर्त्तनीय सामाजिक आधार पर पहले से बने किसी समूहन को राजनीतिक समूहन में बदलने की कुचेष्टाओं से सांप्रदायिकता का जन्म होता है। सांप्रदायिकता 'हमलोग' को उत्तम और 'वे लोग' को अधम मानती है। सांप्रदायिक आधार पर बना राजनीतिक समूहन, अपने गोल के बाहर के अन्य सभी समूहनों और अंतत: राज्य पर अपना पूर्ण वर्चस्व कायम करने की कोशिश करता है। जनतांत्रिक व्यवस्थावाली राजनीति में यह प्रवृत्ति अधिक खतरनाक बन जाती है, क्योंकि इसका सीधा असर वोट की राजनीति पर पड़ता है, जिससे वर्चस्व के नये-नये अवसरों के बनने का रास्ता साफ होता है। कहना न होगा कि हाल के दिनों में, धार्मिक समूहन को राजनीतिक समूहन में बदलकर समाज और राज्य सत्ता पर वर्चस्व बनाने की राजनीति के कारण सांप्रदायिकता के सबसे खतरनाक और मुखर रूप का नये सिरे से उभार हुआ है। ध्यान में रखने की जरूरत है कि यह शाश्वत नहीं, ऐतिहासिक स्थिति है; अर्थात सभ्यता के उदय से अस्त की स्थिति नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक काल में

इसकी शुरुआत हुई है और एक दूसरी ऐतिहासिक काल में इसके अंत की संभावनाएँ हैं। कहना न होगा कि उत्तर-भारत में धर्म आधारित सांप्रदायिकता के बीच तीखा टकराव आधुनिक संवृत्ति है। कबीर के समय में संप्रदायों में सामाजिक अभिसरण[73] की प्रक्रिया जारी थी। कबीरदास इस सामाजिक अभिसरण के सबसे अधिक प्रखर और समर्थ सांस्कृतिक प्रवक्ता थे; कबीरदास अंतर्धार्मिक सामाजिक समन्वय के लिए प्रयत्नशील थे। इस अर्थ में देखें तो हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों को समन्वित करनेवाले 'तुलसीदास के समन्वय' ने निर्वैर धर्म की निर्विशिष्ट मानवता की ओर बढ़ते अंतधार्मिक एवं धर्मातीत सामाजिक अभिसरणवाले कबीर के समन्वय के प्रवाह की दिशा ही बदल दी, बल्कि उलट दी। केरल के अनुभव कई मामलों में आँख खेलनेवाले हो सकते हैं। यह चकित कर देनेवाली बात है कि 'एक सदी पहले के केरल अगर सबसे ज्यादा ऊँच-नीच के भेदभाववाला क्षेत्र था तो आज भरत में सबसे ज्यादा समानता का सिद्धांत माननेवाला इलाका बन गया है। छूआछूत और भेदभाववाली बात गायब हो गई है, स्कूल-कॉलेजों और मंदिरों में प्रवेश पर कोई पाबंदी नहीं रह गई है। राज्य जल्दी ही शत-प्रतिशत साक्षर होने जा रहा है और पुरानी जमींदारियाँ कब की समाप्त हो चुकी है।'[74] केरल का अनुभव यह है कि अपने-अपने संप्रदायों से जुड़े लोगों के सामाजिक उत्थान के प्रयास में लगना सांप्रदायिकता नहीं है, सांप्रदायिकता है, इसके लिए दूसरे संप्रदाय से जुड़े लोगों के हितों की हत्या करना और इसके लिए उन पर अपने संप्रदाय का राजनीतिक वर्चस्व कायम करना। 'हिंदुओं और मुस्लिमों के रिश्ते कितने गहरे हैं ओर किस तरह राजनीति का एक क्षेत्रीय आख्यान उन्हीं कदमों का अर्थ बदल देता है जिन्हें उत्तर और पश्चिम में राष्ट्र के लिए खतरा माना जा सकता है, इसे समझने के लिए हमें सामाजिक न्याय के दर्शन और और 1947 के बाद के केरल की राजनीति में इसके कामकाज पर गौर करना चाहिए।'[75]

ii.कबीर साहब के समय में सांप्रदायिकता की समस्या नहीं थी। संप्रदाय थे, बौद्ध के हीन यान, महायन, वज्रयान आदि थे, जैनियों के दिगंबर, श्वेतांबर आदि थे, हिंदुओं के शैव, वैष्णव, शाक्त, सार, गाणपत्य आदि थे, इस्लाम के शिया, सून्नी आदि थे और उनकी

अपनी-अपनी धारणाएँ और मान्यताएँ थीं। ये धारणाएँ और मान्यताएँ आपस में टकराती भी थीं और एक दूसरे को काटती भी थीं। केरल के अनुभव से मिलाकर देखने पर यह बात साफ हो सकती है कि संप्रदायों का होना और 'सांप्रदायिकता' का होना एक ही बात नहीं है। संप्रदाय जरूरी नहीं कि सांप्रदायिक ही हों। अपने खास अर्थ में, 'सांप्रदायिकता' आधुनिक समय की समस्या है। इतिहास बताता है कि आजादी के आंदोलन के दौरान 'एक अन्य महत्त्वपूर्ण संकीर्ण चेतना थी धार्मिक विभाजन - हिंदू और मुस्लिम संप्रदायवाद, जिसे उपनिवेशवाद ने उत्पन्न और अक्सर प्रोत्साहित किया। इस जटिल विषय पर स्पष्ट चिंतन के मार्ग में बाधा बनीं वे दो परस्पर विरोधी रूढ़ धारणाएँ, जिनका विकास बीसवीं सदी में हुआ। इनमें से एक तो थी वह सांप्रदायिक धारणा जो हिंदुओं और मुसलमानों को समांगी और अनिवार्यत: परस्पर-विरोधी ऐसी इकाइयाँ मानती थी जो मध्यकाल से ही दो राष्ट्रों के रूप में बनी रही थीं। इसके ठीक विपरीत थी राष्ट्रवादी धारणा जिसके अनुसार भारत में हिंदू मुसलमान कभी पूर्ण मैत्री के स्वर्णयुग में रहते थे, लेकिन अँग्रेजों ने फूट डालो और राज करो की नीति द्वारा समाप्त कर दिया था। इन दोनों ही धारणाओं में देशव्यापी एकता और एकरूपता की मान्यता निहित है जोकि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दूरसंचार एवं आर्थिक संबंधों के विकास के पूर्व निश्चित रूप से असंभव थी। वस्तुतत: भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यत: आधुनिक संवृतियाँ हैं।'[76] इस आधुनिक संवृत्ति को समझने और उसके विषप्रभाव से मुक्त होने में कबीर का साहित्य हमारे लिए मार्गदर्शी हो सकता है।

iii. 'जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के ब्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी संप्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी और ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या

उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं', तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण उँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।'[77] यह औषध 'भगवद्विश्वास' है, या 'मनुष्य-प्रेम' है! 'प्रेम-भक्ति (भक्ति-प्रेम नहीं) को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु' (देखें 2.iv) मानने पर यह प्रश्न बार-बार अपना उत्तर माँगता है। कबीर के साहित्य में धर्म की एकता का नहीं, मनुष्य की एकता की उच्चतर-आकांक्षा है। 'मनुष्य की एकता की उच्चतर-आकांक्षा' अर्थात समता, के रास्ते में धर्म का आडंबर जहाँ-जहाँ अवरोध खड़ा करता है, कबीर का काव्य वहाँ-वहाँ जोरदार चोट करता है। धर्म 'अनेक' रहें, लेकिन उनके माननेवालों में आंतरिक और बाहरी सामंजस्य का भाव हो। यही बहुलतावादी भारतीय संस्कृति का सार है। बहुलता में विविधता के लिए जगह होती है। लेकिन सांस्कृतिक-विविधता को सामाजिक-विषमता का नैसर्गिक आधार मानना भारी भूल है। बहरहाल, ध्यान दिलाया जा सकता है कि आंतरिक-सामंजस्य का संबंध मुख्यत: आत्म-सुधार से होता है और बाहरी सामंजस्य का संबंध मुख्यत: सामाजिक-सापेक्षता की ओर गतिशील आत्म-निरपेक्षता से होता है। कबीर अपने समय में प्रत्येक स्तर पर सामाजिकों और समुदायों के बीच आंतरिक-बाहरी सामंजस्य के लिए संघर्षरत थे। इस संघर्ष के रास्ते में जो भी अवरोध सामने आया उस पर कबीर ने बेधड़क गहरी चोट की है।

iv.जो लोग मनुष्य की एकता के प्रति संवेदनशील नहीं होते हैं, वे ईश्वर के एकत्व के विरोध में भी बहुत मुखर होते हैं। कबीर का मनुष्य की एकता में भरपूर भरोसा था, इसीलए वे ईश्वर की एकता के प्रबल समर्थक थे। मनुष्य की एकता में भरोसा था इसलिए समता की भी जबर्दस्त आकांक्षा थी। 'बेकन ने कहा कि मनुष्य के मन तीन प्रकार के होते हैं। कुछ चींटी की तरह संग्रह करने में लगे रहते हैं; और कुछ मकड़ी की तरह अपने अंदर से उपजाते हैं; और कुछ मधुमक्खी की तरह इधर उधर से सामग्री लेकर उसे विशेष आकृति देते हैं। इस कथन में अनुभववाद, विवेकवाद और आलोचनवाद के दृष्टिकोणों की ओर सुंदर रीति से संकेत किया गया है। अनुभववाद के अनुसार सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है; विवेकवाद के अनुसार सारा ज्ञान अंदर से निकलता है; आलोचनवाद के अनुसार ज्ञान की सामग्री बाहर से मिलती है, उसे आकृति मन देता है।'[78] कबीर के आलोचनात्मक विवेक का अनुभव मध्ययुग को समझने में भी सहायक है और आज के युग को समझने में भी सहायक है। 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदू धर्म संघर्ष। यदि इस' शास्त्र-लोक द्वंद्व पर किसी मार्क्सवादी पंडित को इसलिए एतराज हो कि यह वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक शब्दावली नहीं है तो उसके परितोष के लिए मार्च 1946 के 'द माडर्न क्वार्टली' (जिल्द 1, संख्या 2, लंदन) में प्रकाशित जान ईविन के लेख 'द क्लास स्ट्रगिल इन इंडियन हिस्टरी एंड क्लचर' का हवाला देना पर्याप्त है।... शासक वर्ग की विचारधारा के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहने के कारण 'लोकधर्म' शास्त्र से हीन प्रतीत होते हुए भी उसका विकल्प बनकर उपस्थित होता है और यही उसकी शक्ति है। लोकधर्म का प्राण उसका विद्रोह है। इसलिए दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खड़े होनेवाले प्रत्येक जनआंदोलन की शक्ति और सीमा को समझने के लिए उसके द्वारा मान्य ऐसे 'लोकधर्म' का अध्ययन आवश्यक है।'[79]

v.कबीर में जितनी तेज अनुभव शक्ति थी, उतना ही प्रखर उनका विवेक था, साथ ही अनुभव और विवेक से समर्थित उतनी ही समृद्ध एवं गहरी आलोचनात्मक-अंतर्दृष्टि थी। इसी आलोचनात्मक-अंतर्दृष्टि से हासिल 'आँखिन देखी' के बल पर जब कबीर 'कागद की

लेखी’ को चुनौती देते हैं तो उनका पूरा व्यक्तित्व ‘शास्त्र-धर्म’ के पहाड़ के ऊपर ‘लोक-धर्म’ की ‘पूरब दिसि से उठी हुई बदरिया’ की तरह छा जाता है। कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व ‘प्रेम’ है, आज पूरी दुनिया को इसकी जरूरत है। इस जरूरत को पूरा करने के लिए कबीरदास के साहित्य को बार-बार देखने और लोकाभिमुख होने के लिए अनुभव सिद्ध प्रेरणा लेने की जरूरत है। ‘अकथ कहाँणी प्रेम की, कछु कही न जाई। गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसुकाई।’[80] जी हाँ, आज पूरी दुनिया को प्रेम की बड़ी जरूरत है, लेकिन प्रेम को समझना उससे बड़ी चुनौती है। पूरी दुनिया को इंतजार है कि कब ‘पूरब दिसि से उठी हुई बदरिया’ सभ्यता के घर-आँगन, खेत-खलिहान में झूमकर बरसती है। सच-सच बताइये क्या आपको भी इंतजार नहीं है!

[1]जयदेवः गीतगोवन्दः राजकमल प्रकाशनः प्रथम संस्करण -1983

[2] संपादकः डॉ. नगेन्द्रः हिंदी साहित्य का इतिहासः मयूर पेपर बैक्स, प्रकाशन-2001

[3] संपादकः डॉ. नगेन्द्रः हिंदी साहित्य का इतिहासः मयूर पेपर बैक्स, प्रकाशन-2001

[4] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीरः कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन -1980

[5] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीरः कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन -1980

[6] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली 249, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[7] प्रफुल्ल कोलख्यानः प्रेम जो हाट बिकायः जनसत्ता – दुनिया मेरे आगे 14 मई 2001

[8] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली 156, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[9] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980

[10] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, साखी 249, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[11] पी सेमुअल हट्टिंगटन के Clashes of Civilization का संदर्भ लें

[12] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, परचा को अंग-35, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[13] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली 58, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[14] Interpolation का अर्थ लें

[15] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, समर्थाई कौ अंग-5, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[16] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980

[17] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980

[18] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, कुसंगति कौ अंग-7, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[19] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980

[20] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली - 40, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[21] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, साध साषीभूत कौ अंग-2, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[22]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-4, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[23]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-2, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[24]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-3, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[25]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-4, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[26]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-1, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[27] रघुवीर सहायः (संपादन- सुरेश शर्मा) एक समय थाः भाषा का युद्ध- 1995

[28] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980

[29] रामविलास शर्माःपरंपरा का मूल्यांकनःसंत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ : राजकमल प्रकाशन,1981

[30] लेनिनः समाजवाद और धर्मः धर्म और लेनिनः संग्रहीत रचनाएँ खंड 10 (हिंदी पाठः नेशनल बुक एजेंसी)

[31] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980

[32] श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,पदावली-58, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[33] धर्मवीरः सूर्य पर पूरा ग्रहण (कबीरः हजारीप्रसाद द्विवेदी) वर्तमान साहित्यः शताब्दी आलोचना पर एकाग्र-1: मई 2002

[34] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)
[35] रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, 5 वीं आवृत्तिः राजकमल प्रकाशन 2001
[36] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002) से टाइम्स ऑफ इंडिया 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट
[37] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[38] डॉ. धर्मवीरः कबीर नई सदी मेः वाणी प्रकाशन - 2000
[39] डॉ. धर्मवीरः कबीर नई सदी मेः वाणी प्रकाशन - 2000
[40] श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,प्रस्तावना, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[41] भीमराव अंबेडकरः संविधान सभा में दिया गया भाषण, नवंबर 1949: सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2 सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन 2004
[42] भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, 1.12
[43] शंभुनाथः दुस्समय में साहित्य- परंपरा का मूल्यांकनः कबीर का सांस्कृतिक महाविद्रोहः वाणी प्रकाशन 2002
[44] Dr. Babasaheb Ambedkar : Revolution and Counter Revolution in Ancient India: Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)
[45] यहाँ अदृश्यतः का प्रयोग Latent के अर्थ में हुआ है
[46] सुमित सरकारः आधुनिक भारत का इतिहास 1857-1947 : राजकमल प्रकाशनः पहला छात्र संस्करणः 8 वीं आवृत्तिः हरिजन आंदोलन
[47] गीताः अध्याय-11(8)
[48] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[49] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[50] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[51] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[52] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[53] विद्यापतिः कीर्त्तिलताः बाबूराम सकसेना
[54] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन 1979
[55] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980

[56] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका- भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन 1980

[57] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980

[58] रामशरण शर्माः प्राचीन में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ : परिशिष्ट 2 गोपति से भूपतिः राजकमल प्रकाशन, 5 वीं आवृत्ति 2001

[59] दामोदर धर्मानंद कोलांबीः प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता (अनु. गुणाकर मुले) वृहत्तर मगधमें राज्य और धर्म

[60] डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृषणनः भारतीय संस्कृति कुछ विचार

[61]रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ : 5 वीं आवृत्ति -2001: राजकमल प्रकाशन

[62] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980

[63] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः राजकमल प्रकाशन 1979

[64] नागार्जुन रचनावली-6 : मानस चतुःशताब्दी समारोहः मुक्तधारा, 6 एवं 30 मई तथा 20 जून 1970

[65] दूधनाथ सिंहः आखिरी कलामः देव-श्मशान

[66] शंभुनाथः दुस्समय में साहित्य – परंपरा का मूल्यांकनः कबीर का सांस्कृतिक महाविद्रोहः वाणी प्रकाशन 2002

[67] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः राजकमल प्रकाशन 1979

[68] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-उपसंहारःराजकमल प्रकाशन 1980

[69] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन 1979

[70] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली – सं. 13, 1975, पदावली-40 : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

[71] तुलसीदासः विनय पत्रिका

[72] रामविलास शर्माःपरंपरा का मूल्यांकनःसंत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ : राजकमल प्रकाशन,1981

[73] 'Convergence' के अर्थ में

[74] आशुतोष वार्ष्णेयः हिंदू मुस्लिम रिश्ते- नया शोध नये निष्कर्ष (अनुवाद अरविन्द मोहन) : राजकमल प्रकाशन 2005

[75] आशुतोष वार्ष्णेयः हिंदू मुस्लिम रिश्ते- नया शोध नये निष्कर्ष (अनुवाद अरविन्द मोहन) : राजकमल प्रकाशन 2005

[76] सुमित सरकारः आधुनिक भारत का इतिहास 1885-1947 : 8 वीं आवृत्ति 2001 : राजकमल प्रकाशन
[77]आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-उपसंहारःराजकमल प्रकाशन 1980
[78] इमानुएल काण्टः शुद्ध बुद्धि मीमांसा (अनुवादकः भोलानाथ शर्मा) : हिंदी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊः प्रथम सं. 1965
[79] नामवर सिंहः दूसरी परंपरा की खोज – भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोकधर्मः राजकमल प्रकाशन, सं-2, 1989
[80] श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,पदावली-58, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी